



# राजधानी के मेहनतकश

एक अध्ययन

अभिनव



बिगुल पुस्तिका-15

# राजधानी के मेहनतकश एक अध्ययन

अभिनव



jkgy Qkm. M\$ku  
लखनऊ

**ISBN 978-93-80303-16-1**

**मूल्य : रु. 15.00**

**प्रथम संस्करण : जनवरी, 2010**

**प्रकाशक : राहुल फ़ाउण्डेशन**

69, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज,  
लखनऊ-226 006 द्वारा प्रकाशित

**आवरण : रामबाबू**

**टाइपसेटिंग : कम्प्यूटर प्रभाग, राहुल फ़ाउण्डेशन**

**मुद्रक : क्रिएटिव प्रिण्टर्स, 628/एस-28, शक्तिनगर, लखनऊ**

---

**Rajdhanin ke Mehanatkash: Ek Adhyayan by Abhinav**

# प्रकाशकीय

राजधानी दिल्ली देश के सबसे बड़े औद्योगिक केन्द्रों में से एक है। यहाँ की आबादी का बहुत बड़ा हिस्सा मेहनतकशों का है – शायद सबसे अधिक। पिछले कुछ दशकों के दौरान देश के विभिन्न हिस्सों से रोज़गार के लिए यहाँ आने वाले मज़दूरों की तादाद तेज़ी से बढ़ती जा रही है। लेकिन यह विशाल मेहनतकश आबादी दिल्ली की सबसे उपेक्षित आबादी है। अधिकारों और जीवन-स्थितियों के मामले में तो वे उपेक्षित हैं ही, उनके बारे में प्रामाणिक जानकारी और आँकड़ों का भी अभाव है।

मज़दूर अख़बार 'नयी समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक बिगुल' में फ़रवरी 2007 से जून 2007 तक सिलसिलेवार प्रकाशित यह पुस्तिका, विभिन्न स्रोतों से लिये गये आँकड़ों के माध्यम से राजधानी के मेहनतकशों के बारे में जनसांख्यिकीय जानकारियों, उनकी जीवन-स्थितियों और संघर्षों की तस्वीर पेश करने के साथ ही उन्हें संगठित करने के नये रूपों की भी चर्चा करती है। पुस्तिका इस बात की भी तस्वीर पेश करती है कि राजधानी में मेहनतकशों की कितनी बड़ी ताक़त मौजूद है। ज़रूरत है इस बिखरी हुई ताक़त को जागरूक, एकजुट और संगठित करने की। हमें उम्मीद है कि आम मेहनतकशों, मज़दूर संगठनकर्ताओं और अध्येताओं के लिए यह छोटी-सी पुस्तिका उपयोगी साबित होगी।

— राहुल फ़ाउण्डेशन

1.1.2010



आजकल इस देश में ग़रीबों की “हितैषी” संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन की सरकार है। इसे मज़दूरों के संसदीय बातबहादुर हिमायतियों का बाहर से समर्थन प्राप्त है, जो मज़दूर हितों की दुहाई दे-देकर मज़दूर वर्ग की पीठ में छुरा भोंकने का काम बड़ी मुस्तैदी से करते हैं। मज़दूरों की सामाजिक सुरक्षा आदि का ढोल बजाने वाली इस सरकार के घर में ही मज़दूरों की स्थिति क्या है यह देखते ही इनकी मज़दूर हिमायत की पोल खुल जाती है। राजधानी में ही जब सीलिंग के तहत व्यापारियों की दुकानें सील होती हैं तो कांग्रेस और भाजपा सभी उनके बचाव और समर्थन में विरोध का राग अलापने लगते हैं और पुतला दहन और विरोध प्रदर्शनों का सिलसिला शुरू हो जाता है। लेकिन इसी दिल्ली में लाखों मज़दूरों को प्रदूषण फैलाने वाले कारख़ाने बन्द करने के नाम पर उजाड़ा जाता है, हर साल दर्जनों झुग्गी बस्तियाँ और अनधिकृत/अनियमित बस्तियाँ उजाड़कर लाखों ग़रीब मेहनतकशों को राजधानी के बाहरी इलाकों में फेंक दिया जाता है, तब कहीं कोई शोर नहीं मचता। मेहनतकश लोगों ने ही यह दिल्ली बनायी है। शुरू में मज़दूरों को दिल्ली में लाकर बसाया जाता है और काम निकल जाने के बाद उन्हें यहाँ से खदेड़ दिया जाता है। (नोट : यहाँ हम केवल दिल्ली राज्य के दायरे में आने वाले मज़दूरों की ही चर्चा कर रहे हैं। दिल्ली की सीमा से लगे हुए नोएडा, गाज़ियाबाद, फ़रीदाबाद, गुडगाँव आदि औद्योगिक क्षेत्रों के मज़दूर इसमें शामिल नहीं हैं।)

## यह दिल्ली हमने बनायी है!

दिल्ली में मज़दूरों की संख्या लाखों में है। इनमें से अधिकांश मज़दूर वे हैं जो अपनी जगह-जमीन से उजड़कर सैकड़ों मील दूर दिल्ली में काम करने आये हैं। यानी दिल्ली की मज़दूर आबादी का बड़ा हिस्सा प्रवासी मज़दूरों का है। यह मेहनतकश आबादी कारख़ाना मज़दूरों, दुकानों, घरों में काम करने वाले नौकरों, निर्माण उद्योग में लगे मज़दूरों, रिक्शेवालों, ठेले-खोमचे वालों के रूप में दिल्ली में बसी हुई है। यही आबादी है जिसने दिल्ली को बनाया और खड़ा किया है। दिल्ली शुरू से ही प्रवासियों का शहर रहा है। ब्रिटिश उपनिवेशवादियों द्वारा

दिल्ली को 1911 में राजधानी बनाये जाने के वक्त से ही दिल्ली में श्रमिकों का आना शुरू हुआ। सबसे पहले जो मजदूर आये थे, वे राजस्थान के घुमन्तू मजदूर थे। दिल्ली की सबसे शुरुआती सरकारी और गैर-सरकारी इमारतों का निर्माण इन्हीं मजदूरों ने किया। इनके पौत्र-प्रपौत्र आज भी दक्षिण दिल्ली के भट्टी माइंस इलाके में मिल जाते हैं। दिल्ली के राजधानी बनने की घोषणा के बाद 20 वर्षों में पूरी दिल्ली की प्रशासनिक इमारतों का निर्माण हो गया और 1931 में दिल्ली का राजधानी के रूप में उद्घाटन हुआ। इसके बाद 1947 में आजादी मिलने के बाद एक बार फिर बड़े पैमाने पर सरकारी इमारतों, सरकारी मुलाजिमों के लिए रिहायशी कालोनियों और अन्य सुविधाओं का निर्माण शुरू हुआ। यह दिल्ली में प्रवासी मजदूरों के आने की दूसरी लहर की शुरुआत थी। उस समय भी निर्माण के पूरा होने के बाद कुछ ही मजदूर वापस लौटे; अधिकांश शहर के किनारों पर झुग्गी-झोपड़ी बस्तियों में बस गये। आज वे इलाके शहर के किनारे नहीं रह गये हैं और वहाँ रह रहे मजदूरों को काफ़ी पहले ही और बाहर खदेड़ा जा चुका है।

1960 के दशक से दिल्ली एक प्रशासनिक केन्द्र ही नहीं औद्योगिक केन्द्र बनना भी शुरू हो गया। 1962 में दिल्ली का पहला मास्टर प्लान आया। इस मास्टर प्लान में 1962 में दिल्ली में औद्योगिक इकाइयों की संख्या 10,000 बतायी गयी थी। इस मास्टर प्लान के बीस वर्ष का समय पूरा होने के बाद 1982

**तालिका 1**  
**कोलकाता और मुम्बई की तुलना में**  
**दिल्ली की शहरी आबादी\* की वृद्धि**

वर्ष	दिल्ली	कोलकाता	मुम्बई
1951	1,744,072 (-)	4,669,559 (-)	2,966,902 (-)
1961	2,658,612 (52.4)	5,983,669 (28.1)	4,152,056 (39.9)
1971	4,065,698 (52.9)	7,420,300 (24.0)	5,970,575 (43.7)
1981	6,220,406 (53.0)	9,194,018 (23.9)	8,243,805 (38.07)
1991	9,420,644 (51.45)	11,021,918 (19.8)	12,439,901 (50.09)
2001	12,791,458 (35.7)	13,216,546 (19.9)	16,386,084 (31.7)

टिप्पणी : कोष्ठक में दिखायी गयी संख्या दशकीय वृद्धि दर है

\* दिल्ली की 93 प्रतिशत आबादी शहरी है

स्रोत : भारत की जनगणना, रजिस्ट्रार जनरल ऑफ़ इण्डिया

में इनकी संख्या सारे अनुमानों को ध्वस्त करते हुए 82,000 जा पहुँची थी। यही बताता है कि दिल्ली का औद्योगिक केन्द्र के रूप में विकास किस रफ़्तार से हुआ। इस समय तक उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश और पश्चिम बंगाल से भी मज़दूरों का दिल्ली आना शुरू हो चुका था। 1982 में मास्टर प्लान नहीं आया क्योंकि उस समय एशियाड खेल होने वाले थे। इसलिए एक विशेष योजना के तहत पूरी दिल्ली में बड़े-बड़े स्टेडियमों, फ़्लाइ-ओवरों, होटलों, आदि का निर्माण शुरू हो गया। एक बार फिर बड़े पैमाने पर मज़दूर दिल्ली आये या लाये गये। इनमें से भी अधिकांश मज़दूर दिल्ली के किनारे के इलाकों में बस गये और कारखानों में काम करने लगे या छोटे-मोटे रोज़ी-रोज़गार में लग गये। इन लोगों ने उजाड़-वीरान पड़े इलाकों को अपनी मेहनत से रहने लायक बनाया। लेकिन लगातार फैल रहा दिल्ली शहर जैसे ही वहाँ तक पहुँचा उस ज़मीन की कीमत करोड़ों में पहुँच गयी और फिर उस ज़मीन को हड़पने के लिए उन्हें उजाड़कर राजधानी के और दूरदराज़ इलाकों में धकेल दिया गया। 1990 में दिल्ली का दूसरा मास्टर प्लान आया। इसमें अनुमान लगाया गया कि अगले मास्टर प्लान, यानी 2001 तक दिल्ली में औद्योगिक इकाइयों की संख्या 82,000 से बढ़कर 93,000 हो जायेगी लेकिन फिर सारे आकलन बेकार हो गये और 1998 आते-आते ही औद्योगिक इकाइयों की संख्या 1,30,000 पहुँच चुकी थी। इन इकाइयों में 1998 की आर्थिक जनगणना के अनुसार 14.4 लाख मज़दूर काम कर रहे थे। यानी लगभग 15 लाख मज़दूर तो 1998 तक ही सिर्फ़ कारखानों में काम कर रहे थे। इसमें वह आबादी शामिल नहीं है जो रिक़शा चलाती है, रेहड़ी लगाती है, घरेलू नौकरों का काम करती है, और किसी छोटे-मोटे धन्धे में लगी हुई है। अभी मिलेनियम मास्टर प्लान चल रहा है जिसके तहत दिल्ली को एक अन्तरराष्ट्रीय शहर और विलासिता का अट्टा बनाने के लिए बड़े पैमाने पर शॉपिंग मॉल्स, मल्टीप्लेक्स, फ़्लाइ-ओवर, होटलों आदि का निर्माण हो रहा है। इसके अतिरिक्त मेट्रो रेल परियोजना के क्रियान्वयन में भी लाखों की संख्या में मज़दूर दिल्ली आ चुके हैं। और अब 2021 का मास्टर प्लान भी स्वीकृत होने वाला है जिसके मज़दूर-विरोधी चरित्र पर हम बाद में बात करेंगे।

## आँकड़े क्या कहते हैं

दिल्ली में मज़दूरों के आने के इस संक्षिप्त इतिहास से यह बात शीशे की तरह साफ़ है कि दिल्ली नवधनपतियों और धन्नासेठों ने नहीं बल्कि मज़दूरों ने बनायी



है – इसकी एक-एक इमारत, एक-एक सड़क, एक-एक कारखाना। अब हम एक नज़र दिल्ली आने वाले प्रवासी मज़दूरों के आँकड़ों पर भी डाल लें। 2001 की जनगणना के अनुसार दिल्ली की कुल आबादी 1,38,50,507 है। इसमें से 3,27,915 विदेशी हैं। बाकी बचते हैं 1,35,22,592। इसमें से 53,18,362 लोग ऐसे हैं जो दिल्ली के नहीं हैं और उनका जन्म किसी और राज्य में हुआ है। यानी दिल्ली की लगभग 40 फीसदी आबादी प्रवासी है। इसमें से करीब 23 लाख प्रवासी उत्तर प्रदेश से, 7.5 लाख बिहार से, करीब 3 लाख उत्तरांचल से, और करीब पौने 2 लाख पश्चिम बंगाल से हैं। यानी इन राज्यों से ही करीब 35 लाख लोग दिल्ली में मौजूद हैं। ये वे राज्य हैं जहाँ से आने वाले अधिकांश लोग दिल्ली में मज़दूरी करते हैं। अगर इन राज्यों से आने वाली प्रवासी आबादी के 70 फीसदी हिस्से को भी श्रमिक श्रेणी में रखा जाये तो दिल्ली में इन राज्यों से आने वाले मज़दूरों की संख्या 24 लाख के करीब बैठेगी।

ये आँकड़े प्रवासी मज़दूरों की सही स्थिति को नहीं बताते हैं। प्रवासी मज़दूरों की संख्या उतनी ही नहीं है जितना कि जनगणना के आँकड़े बताते हैं। जनगणना सिर्फ़ स्थायी प्रवासियों को ही प्रवासी मानती है। एक बहुत बड़ी आबादी ऐसी है, जो चक्रीय, मौसमी या यात्रा प्रवास करती है। चक्रीय आबादी जो घुमन्तू मज़दूरी करती है, कहीं एक जगह नहीं ठहरती। आज यहाँ तो कल कहीं और।

## तालिका 2 दिल्ली की जनसंख्या वृद्धि

वर्ष	जनसंख्या	दशकीय वृद्धि दर
1901	4,05,809	-
1911	4,13,851	2.0
1921	4,88,452	18.0
1931	6,36,246	30.3
1941	9,17,939	44.3
1951	1,744,072	90.0
1961	2,658,612	52.4
1971	4,065,698	52.9
1981	6,220,406	53.0
1991	9,420,644	51.5
2001	12,791,458	35.7

स्रोत : भारत की जनगणना, रजिस्ट्रार जनरल ऑफ़ इण्डिया

मौसमी प्रवासी वे होते हैं जो किसी विशेष मौसम में अपने क्षेत्र में रोज़गार या खेती के अनुसार दूसरे शहरों में जाते हैं। और यात्रा करने वाले प्रवासी वे होते हैं जो रोज़ अपने घर से कई किलोमीटर दूर काम करने जाते हैं। ऐसे मजदूरों को जनगणना में प्रवासी नहीं माना जाता। निवास-स्थान में स्थायी परिवर्तन से ही जनगणना किसी को प्रवासी मानती है। साफ़ है कि अगर चक्रीय, यात्रा करने वाले, और मौसमी प्रवासियों की संख्या को भी प्रवासियों की संख्या में जोड़ दिया जाये तो प्रवासी मजदूरों की संख्या अचम्भित कर देने वाली होगी।

दिल्ली की जनसंख्या वृद्धि का एक बहुत बड़ा कारण है मजदूरों का दिल्ली में आना। दिल्ली के विस्तार का भी एक कारण यही है। लेकिन दिल्ली में मजदूरों के आने का कारण क्या है? यह कारण है दिल्ली को चमकदार और साफ़-सुथरा, अमीरज़ादों और पर्यटकों का विलास केन्द्र और तथाकथित “अन्तरराष्ट्रीय शहर” बनाना। तमाम बिल्डर, कारख़ाना-मालिक, ठेकेदार और अन्य पूँजीपति हमेशा प्रवासी मजदूरों को ही काम पर रखना चाहते हैं। इसके कई कारण हैं। इन कारणों पर चर्चा करके यह समझा जा सकता है कि दिल्ली में इतने भारी पैमाने पर मजदूर क्यों आते हैं।

## प्रवासियों का आना मुनाफ़ाखोरों के लिए ज़रूरी है!

दिल्ली में मजदूरों का आना पूँजीपतियों के लिए एक फ़ायदेमन्द बात है। मजदूर वर्ग के महान शिक्षक मार्क्स ने बताया था कि पूँजीवाद स्वभाव से ही असमान विकास करता है। किसी भी पूँजीवादी देश में सभी इलाके एक बराबर विकसित नहीं होते। कुछ इलाके विकसित होते हैं जो तरक्की, ऐशो-आराम और विलासिता के केन्द्र बन जाते हैं। बाकी इलाके पिछड़े रहते हैं और कम रफ़्तार से विकसित होते हैं। पूँजीवाद इस असमान विकास को पूँजी संचय और मुनाफ़ा निचोड़ने के

### तालिका 3

#### दिल्ली में आने वाले कुल प्रवासियों की संख्या (हज़ार में)

वर्ष	दिल्ली में आने वाले कुल प्रवासी
1961-1971	633
1971-1981	952
1981-1991	1306
1991-2001	1600

स्रोत : भारत की जनगणना, रजिस्ट्रार जनरल ऑफ़ इण्डिया

एक औज़ार के रूप में इस्तेमाल करता है। पिछड़े क्षेत्र सस्ते श्रम के पुनरुत्पादन और आपूर्ति के केन्द्र बना दिये जाते हैं। श्रमिक कम श्रम माँग के क्षेत्र से अधिक श्रम माँग के क्षेत्र में विस्थापित होते रहते हैं। प्रवास की घटना आदिम पूँजी संचय के साथ ही शुरू हो जाती है। गाँव में पूँजी के प्रवेश के साथ ही वहाँ की अपेक्षाकृत गतिहीन अर्थव्यवस्था में गति पैदा होती है। किसानों का विभेदीकरण होता है और गरीब किसान उजड़कर उजरती गुलामों की जमात में शामिल होते जाते हैं। इनमें से कुछ गाँव में ही धनी किसानों के खेतों में मजदूरी करते हैं, यानी खेतिहर मजदूर बन जाते हैं और बाकी शहरों की ओर पलायन करते हैं क्योंकि गाँव में उनके लिए कुछ नहीं बचा होता। जैसे ही खेती का लक्ष्य पेट भरने से तिजोरी भरना बन जाता है वैसे ही छोटी जोत की किसानों के लिए भी धनी किसानों के खेतों में मजदूरी करना एक बाध्यता बन जाती है क्योंकि सिर्फ अपनी बीघा-दो बीघा ज़मीन पर खेती से वे अपना पेट भी नहीं पाल सकते। नतीजतन, भूमिहीन खेतिहर मजदूरों के अतिरिक्त गरीब किसानों की एक भारी आबादी भी अर्द्धसर्वहारा की स्थिति में आ जाती है क्योंकि उसके जीवन यापन का मुख्य स्रोत अपनी ज़मीन पर खेती नहीं बल्कि दूसरों के खेतों में मजदूरी बन जाता है। उत्पादक शक्तियों और खेती के उपकरणों के विकास के साथ ही गाँवों में एक भारी आबादी फाजिल हो जाती है जो शहरों की ओर रोज़गार की तलाश में निकल पड़ती है। जब तक किसान सामन्ती सम्बन्धों में बँधे हुए थे उनकी गतिशीलता निर्बन्ध नहीं हो सकती थी। और भारत के पूँजीपति वर्ग ने भूमि सुधार धीरे-धीरे लागू करके गाँव की फाजिल आबादी को उजाड़ा और शहर के औद्योगिक केन्द्रों की ओर धकेल दिया। यह काम आज़ादी के बाद एक झटके से नहीं किया गया क्योंकि इससे एक झटके से इतनी भारी संख्या गाँवों से मुक्त होती जिसे खपा पाने की ताक़त आज़ादी के तत्काल बाद के भारत के औद्योगिक केन्द्रों में नहीं थी। छोटी किसानों को सरकारी योजनाओं की सहायता और ऋण आदि के माध्यम से लम्बे समय तक इसी कारण से बचाकर रखा गया। लेकिन 1960 के दशक के अन्तिम दौर से और खास तौर से 70 के दशक से भारत के द्रुत गति से हुए शहरीकरण और औद्योगिक विकास के साथ भारी पैमाने पर श्रम की आवश्यकता पूँजी को हुई और इसके साथ ही छोटी किसानों को बचाने और किसानों को ज़मीन से बाँधे रखने वाली सारी सरकारी योजनाओं को धीरे-धीरे तिलांजलि देना शुरू कर दिया गया, जो प्रक्रिया अब भी जारी है। इसके साथ ही मजदूरों की एक विशाल आबादी बड़े-छोटे शहरों में काम करने आयी। भारत की कुल आबादी का लगभग 40 प्रतिशत हिस्सा आज अपने जन्मस्थान पर नहीं रहता है। यानी वह प्रवासी है। यह तथ्य अपने आप में बहुत कुछ बताता है।

पूँजीपति हमेशा प्रवासी मजदूरों को काम पर रखना पसन्द करता है। इसके कई कारण हैं। प्रवासी मजदूर काफ़ी अरक्षित होते हैं। वे अपने इलाके से दूर होते हैं। कोई ग्राम या जाति समुदाय उनकी रक्षा और समर्थन के लिए वहाँ नहीं होता है। वे किसी जॉबर या किसी 'लेबर नेटवर्क' के ज़रिये शहरों में आते हैं। ऐसा शहर जिसे वे पहली बार देखते हैं; जहाँ उनकी जान-पहचान बेहद कम लोगों से होती है। उनके रहने का कोई ठिकाना नहीं होता, उनको चिकित्सा, शिक्षा आदि हासिल नहीं होती। पुलिस और प्रशासन जब-तब उन्हें दबिश देता और उजाड़ता रहता है। नतीजतन, वे सुरक्षा की तलाश में रहते हैं जिसके कारण बेहद कम मजदूरी पर वे अपना हाड़-मांस गलाने को और अपने खून-पसीने से पूँजीपतियों की तिजोरियाँ भरने को तैयार हो जाते हैं। वे आते तो शहर में सामाजिक और आर्थिक सुरक्षा की तलाश में हैं, मगर उन्हें यहाँ जो हासिल होता है वह है असुरक्षा, भय, बेरोज़गारी, भटकना, शोषण और उत्पीड़न। इसकी कीमत पर वे नर्क जैसी बस्तियों में रहते हुए किसी तरह दो जून का खाना जुटा लेते हैं। जाहिर है गाँव में वह भी उन्हें नहीं मिलता जो शहर में मिल पाता है। लेकिन वे एक नयी किस्म की गुलामी में प्रवेश करते हैं – उजरती गुलामी में। इसलिए प्रवासी मजदूर पूँजीवाद की ज़रूरत भी हैं। अतिलाभ निचोड़ने के लिए बेहद ज़रूरी है कि अपने प्राक्-पूँजीवादी समुदायों से कटे अकेले मजदूरों की भारी संख्या पूँजीवाद की दया पर हमेशा मौजूद रहे। यही कारण है कि पूँजीपति वर्ग हमेशा प्रवासी मजदूरों को ही काम पर रखना चाहता है। यानी, इसके मुख्य कारण हैं – 1) सस्ता श्रम, 2) अरक्षित स्थिति, 3) मोलभाव करने की कम ताकत।

मजदूरों का और भयंकर शोषण करने के लिए जो काम दिल्ली में हुआ है वह है उद्योगों का अनौपचारिकीकरण। वैसे, मजदूरों के एका को कमज़ोर करने और उन्हें लूटने के लिए यह हथकण्डा तो पूरी दुनिया में अपनाया गया है। दिल्ली में छोटी औद्योगिक इकाइयों की संख्या 2001 तक 1,29,000 पहुँच चुकी थी। अब यह और ज़्यादा हो चुकी होगी। ये ऐसी फ़ैक्टरियाँ हैं जिनमें 4 से लेकर 10-11 मजदूर तक आम तौर पर काम करते हैं। इसमें कोई यूनियन नहीं बन सकती। इसमें किसी श्रम क़ानून का पालन नहीं होता। पूरी तरह गुलामी का आलम होता है। आम तौर पर मजदूरों की रिहायश भी फ़ैक्टरी में ही बना दी जाती है जिसका फ़ायदा मालिक उनसे अतिरिक्त समय में और काम करवा कर उठाता है और मजदूरों से अपने घरेलू काम तक करवाता है। ऐसे मजदूरों की संख्या भी दिल्ली में कई लाख में है। ऐसी फ़ैक्टरियाँ भजनपुरा, खजूरी, नन्दनगरी, जगतपुरी, विश्वासनगर, शाहदरा जैसे इलाकों में भारी संख्या में हैं। इस अनौपचारिकीकरण से मजदूरों को निचोड़ने की प्रक्रिया और सघन हो जाती है।

आम तौर पर छोटे मालिक रोज़मर्रा के जीवन में मज़दूरों के लिए ज़्यादा क्रूर सिद्ध होते हैं। ये मालिक भी प्रवासी मज़दूरों को स्थानीय मज़दूरों पर तरजीह देते हैं।

दिल्ली ही नहीं देश के हर बड़े शहरी और औद्योगिक केन्द्र में प्रवासी मज़दूरों को बड़े पैमाने पर रखा जाता है। लेकिन मज़दूरों का प्रवास पूँजीपतियों को सिर्फ़ तात्कालिक फ़ायदा पहुँचाता है। लम्बे दौर में यह मज़दूरों के व्यापक भाईचारे के लिए अच्छा है। मज़दूर समुदाय, जाति, धर्म और भाषा आधारित आदिम एकता से मुक्त होकर वर्गीय एकता के प्रगतिशील क्षेत्र में प्रवेश कर जाते हैं। यह तात्कालिक तौर पर उनकी दरिद्रता का कारण बनता है लेकिन दीर्घकालिक रूप से यह उनकी वर्ग चेतना को बढ़ाने का कारण बन जाता है। सर्वहारा वर्ग और अक्टूबर क्रान्ति के महान नेता लेनिन ने कहा था कि मज़दूरों का प्रवास उन्हें एक उन्नत उत्पादन व्यवस्था के सम्मुख उपस्थित करके उनके मानसिक क्षितिज को व्यापक बनाता है और उन्हें आदिम कूपमण्डूकताओं से मुक्त करता है। यही कारण है कि आज पूँजीवाद के सबसे दूरदर्शी चौकीदारों में से एक, एनजीओ सेक्टर मज़दूरों के प्रवास को रोकने की सिफारिशें कर रहा है और प्रवासी मज़दूरों की जीवन स्थितियों को सुधारने में लगा हुआ है जिससे कि उसकी वर्ग चेतना कुन्द हो सके।

इन मज़दूरों की कार्यस्थितियाँ तो भयंकर होती ही हैं साथ ही इनकी रिहायश और रहन-सहन का स्तर भी बेहद नीचे होता है। झुग्गी-बस्तियों में चलने का रास्ता भी मुश्किल से होता है। छत की ऊँचाई अक्सर इतनी कम हुआ करती है कि एक सामान्य लम्बाई का आदमी ठीक से खड़ा भी नहीं हो सकता। कमरे का आकार मुश्किल से छह फुट गुणा तीन या चार फुट होता है। ऐसे कमरों में 3 से 4 मज़दूर तक साथ रहते हैं। यानी मुरगी के दड़बों जैसी स्थिति। इन बस्तियों में पीने के साफ़ पानी की कोई सुविधा नहीं होती और जल बोर्ड के टैंकर नियमित तौर पर नहीं आते। नाली और सैनीटेशन की व्यवस्था भी अधिकांश बस्तियों में नदारद है। बिजली की स्थिति भी दयनीय है। इसी दिल्ली में जहाँ आठ-आठ लेन की सड़कें अमीरज़ादों की कारें दौड़ाने के लिए बनायी जा रही हैं उसी दिल्ली में चलने और रहने लायक जगह भी मज़दूरों को मुहैया नहीं है जो यह सारा विकास अपने खून-पसीने से कर रहे हैं। यह एक अदृश्य आबादी है जो सड़कों के फुटपाथों पर रोज़ पैदल काम पर आती-जाती है लेकिन नज़र नहीं आती। शोर मचाती कारें और गाड़ियाँ दिखलायी देती हैं क्योंकि पैसा बोलता है। लगता है कि देश कितना समृद्ध हो गया, दिल्ली कितनी समृद्ध हो गयी। लेकिन इस समृद्धि को पैदा करने वाला वर्ग चुपचाप वहीं मौजूद रहता है और दिखायी नहीं देता। यह अदृश्य आबादी कोई छोटी-मोटी नहीं है। ये 30 लाख

मेहनतकश लोग हैं। जिस दिन ये एक होकर बुलन्द आवाज़ में अपना हक माँगेंगे तो उसकी गूँज से धनपशुओं के कान के परदे फटने लगेंगे।

## हमारे लिए नतीजा

दिल्ली जैसी जगहों में पूँजीवादी सरकार को प्रवासी मजदूरों की ज़रूरत तो है लेकिन साथ ही वे शहर को थोड़ा “बदसूरत” भी बना देते हैं। ऊँचे-ऊँचे फ़्लाइ-ओवरों के नीचे, और आलीशान होटलों के पीछे झुग्गी-झोपड़ी बस्तियाँ अच्छी थोड़े ही लगती हैं! मगर उन्हें दिल्ली से दूर खदेड़ा नहीं जा सकता। क्योंकि नवधनाढ्यों और छोटी औद्योगिक इकाइयों के मालिकों को उनके श्रम की ज़रूरत भी है। लेकिन शहर के बीचों-बीच वे अच्छे नहीं लगते इसलिए उन्हें खदेड़कर शहर के किनारों पर बसाया जा रहा है। इसीलिए वज़ीरपुर, नारायणा, कर्मपुरा, मायापुरी और ऐसी पुरानी मजदूर बस्तियों को उजाड़ा जा रहा है क्योंकि वे “विकास” के नये सरकारी कार्यक्रम के रास्ते में आ रही हैं। कहने की ज़रूरत नहीं है कि यह नयी योजना कॉमनवेल्थ खेलों और विश्व कप और फिर सम्भावित ओलम्पिक खेलों के मद्देनज़र लागू की जा रही है। निवेशकों को ललचाने के लिए भी यह सारा प्रपंच ज़रूरी होता है। नतीजतन, शहर के किनारे अब नये सिरे से झुग्गी-बस्तियाँ बसायी जा रही हैं, जैसे, नांगलोई एक्स., भलस्वा डेरी, बवाना, नरेला, झड़ौदा, कंझावला आदि परिधि के इलाकों में नयी झुग्गी बस्तियाँ बसायी जा रही हैं या बस चुकी हैं। अब मजदूर वहाँ रहेंगे और विलासिता के इस टापू की सेवा में लगे रहेंगे। और शहर भी सुन्दर दिखेगा। नये प्रस्तावित मास्टर प्लान 2021 की योजना भी यही है कि दिल्ली को समृद्धि का एक केन्द्र बनाया जाये और मजदूरों और मेहनतकशों को उससे बाहर खदेड़ा जाये क्योंकि वैसे भी धनपशुओं को अपने इर्द-गिर्द इतनी बड़ी संख्या में उनकी उपस्थिति डरा देती है। मास्टर प्लान 2021 में अनधिकृत कालोनियों में मिश्रित भूमि उपयोग की इजाज़त दी है जिसका सीधा फ़ायदा छोटे व्यापारियों को मिलेगा जिनको फ़िलहाल कुछ दिनों तक लुभाये रखना वोट बैंक राजनीति की ज़रूरत है। इसलिए एक बार कुछ झटका देकर अब उन्हें राहत दी जाने की बात की जा रही है। सौन्दर्यीकरण के लिए सीलिंग द्वारा अभी जितना झटका व्यापारियों को देना था वह दिया जा चुका है। खुदरा व्यापार में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश को मंजूरी के साथ ही उनके भविष्य पर भी सील लग ही गयी है। मजदूरों के लिए तो यह झटका क्या होगा, उन्हें तो हर साल ही दिल्ली की एक जगह से उजाड़कर दूसरी जगह भेज दिया जाता है। मास्टर प्लान 2021 इन मजदूर बस्तियों के

भविष्य पर चुप्पी साधे हुए है या उन्हें सीधे दिल्ली की परिधि पर भेज देने की बात कह रहा है।

साफ है कि नीति-निर्माता किसके पक्ष में खड़े हैं। देश के सुन्दर चेहरे दिल्ली में ही मजदूर आबादी किन हालात में जी रही है, इसे देख कर ही इस व्यवस्था के पक्ष का पता चल जाता है। लेकिन मुनाफ़े की हवस में अन्धा वर्ग अक्सर जो कब्र खोदता है उसमें खुद ही गिर पड़ता है। यह व्यवस्था मजदूरों के एक विशाल उमड़ते-घुमड़ते सागर को राजधानी से दूर रखने की कोशिश में राजधानी को ही चारों तरफ़ से बारूद की ढेरी से घेर रही है। मजदूरों के गुस्से का सैलाब जिस दिन फूटेगा उस दिन सारी विलासिता की मीनारें खाक में मिल जायेंगी। और इस ग़लती का अहसास होने में अब काफ़ी देर हो चुकी है। 30 लाख मेहनतकशों को सरकार कहाँ गायब कर देगी? कितनी दूर खदेड़ देगी? वहीं दूसरे इलाकों से ग़रीबों के उजड़ने को भी यह व्यवस्था नहीं रोक सकती। वहाँ भी पूँजी का अपना तर्क काम कर रहा है। नतीजा यह है कि दिल्ली, मुम्बई जैसे केन्द्रों में धनपतियों की ऐशो-आराम की ज़िन्दगी बारूद के एक आतिशफिशाँ पहाड़ के साये में चल रही है। मजदूरों के उजड़ने और प्रवास की इस प्रक्रिया को तमाम सुधारपरक योजनाओं से अब पलटा नहीं जा सकता है। अब इस व्यवस्था को पलटकर ही इसे रोका जा सकता है।



## क्यों होता है प्रवास?

मजदूर वर्ग के महान शिक्षकों और नेताओं मार्क्स और एंगेल्स ने पूँजीवादी उत्पादन व्यवस्था की सच्चाई और इस पर समाजवाद की विजय की अवश्यम्भाविता को प्रदर्शित करने वाली अपनी महान रचना 'पूँजी' के दूसरे खण्ड में लिखा था कि पूँजीवाद अब तक की सर्वाधिक गतिशील उत्पादन व्यवस्था है। यह अपनी छवि के अनुसार एक नयी दुनिया रचता है। लेकिन पूँजीवादी उत्पादन की स्थितियाँ पूँजी को बनी-बनायी नहीं मिलती हैं। यह सभी मौजूदा तकनीकों, पद्धतियों और स्थितियों को रूपान्तरित कर डालता है और स्थान और समय के अनुसार अलग-अलग रूप से विकसित होता है। इसीलिए दुनिया भर में पूँजीवाद का असमान विकास होता है। यह सच है कि पूँजी एकीकरण करने वाली एक शक्ति है लेकिन यह एकीकरण वह प्रतियोगिता, विभेदीकरण और ध्रुवीकरण के ज़रिये करती है। यानी पूँजी विस्तार करने की अपनी नैसर्गिक प्रवृत्ति के कारण पूरी दुनिया को छाप लेती है लेकिन यह पूरी प्रक्रिया एक असमान विकास की

प्रक्रिया होती है जिसमें कुछ क्षेत्र अधिक विकसित हो जाते हैं तो कुछ पीछे छूटे रह जाते हैं। एक तरफ़ तो पूरी दुनिया पूँजी के शासन के तहत एकीकृत होती जाती है लेकिन साथ ही उस दुनिया के भीतर पूँजीवादी विकास असमान रूप से होता है।

पूँजीवाद इस असमान विकास का फ़ायदा उठाता है। या कहना चाहिए कि पूँजीवादी विकास असमान ही हो सकता है। वह इस असमानता को पूँजी संचय की एक रणनीति के रूप में इस्तेमाल करता है क्योंकि पिछड़े क्षेत्र सस्ते श्रम के पुनरुत्पादन के केन्द्र बन जाते हैं और उन्नत क्षेत्र उन्हें निचोड़ने के केन्द्र। अगर श्रम के पुनरुत्पादन या सीधे शब्दों में कहें तो रोज़ी कमाने की स्थिति मज़दूरों के लिए हर जगह समान रूप से वितरित होती तो कोई भी व्यवस्थित श्रम गतिशीलता, या मज़दूर प्रवास न होता। इसलिए अलग-अलग क्षेत्रों में श्रम की माँग और आपूर्ति की अलग-अलग स्थितियाँ होती हैं और श्रम कम माँग के क्षेत्र से अधिक माँग के क्षेत्र की ओर प्रवाहित होता है। यानी कम माँग वाले क्षेत्रों से मज़दूरों का प्रवास उन क्षेत्रों की ओर होता है जहाँ श्रम की माँग ज़्यादा है।

संक्षेप में कहें तो पूँजीवादी व्यवस्था स्वाभाविक रूप से असमान विकास करती है और असमान विकास स्वाभाविक रूप से मज़दूरों को उजाड़ता है। जब पूँजीवाद अपनी शैशवावस्था में था तो उसने मज़दूरों का प्रवास पहले बन्दूकों के जोर पर करवाया। मसलन, इंग्लैण्ड में 17वीं सदी का **बाड़ेबन्दी आन्दोलन** जिसमें किसानों को खेतों से जबरन बेदख़ल करके उनका सर्वहाराकरण किया गया क्यों पूँजीवाद को अपने विकास के लिए मुक्त श्रम की ज़रूरत थी। पूँजीवाद के परिपक्व दौर में पूँजी इस काम को स्वतः ही अंजाम दे डालती है। गाँवों में सामन्ती सम्बन्धों की समाप्ति के बाद पूँजी की ताक़त ग़रीब किसानों और निम्न मध्यम किसानों को गुज़ारा खेती के युग से निकाल कर बाज़ार की गुलामी के युग में लाती है। और एक बार बाज़ार की प्रतियोगिता में प्रवेश के बाद पूँजी के संकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया शुरू हो जाती है; बड़ी पूँजी छोटी पूँजी को निगलती है; छोटी जोत की किसान खेती में अधिक लागत आने के कारण प्रतियोगिता में बड़े पैमाने की खेती के सामने टिक नहीं पाती। नतीजा यह होता है कि छोटे और मँझोले किसान उजड़कर पास के शहरी केन्द्रों और औद्योगिक केन्द्रों की ओर पलायन करते हैं।

पूँजीवाद की उन्नत मंज़िलों में सिर्फ़ भुखमरी या बेहद ग़रीबी के कारण ही प्रवास नहीं होता बल्कि बेहतर विकल्पों की तलाश में भी प्रवास शुरू हो जाता है। भारत में भी अब हमें इस किस्म के प्रवास के उदाहरण मिलने लगे हैं। ये मिसालें खास तौर पर उन पेशों में देखने को मिलती हैं जो देखने में तो मज़दूरी



जैसे नहीं लगते लेकिन सार रूप में ये मजदूरी ही होते हैं। मसलन, सेल्समैन, रिसेप्शनिस्ट जैसी अस्थायी नौकरियाँ जिसमें हमेशा नौकरी छूट जाने की तलवार सिर पर लटकती रहती है।

मजदूरों का प्रवास पूँजीवाद के उदय के पहले भी होता था लेकिन वह सामन्तों के शासन में उत्पीड़न और शोषण के खिलाफ बगावत करके भागने वाले भूदास (बेगारी करने वाले भूमिहीन मजदूर) और गरीब काश्तकार किसान होते थे। आर्थिक परिघटना के तौर पर प्रवास की शुरुआत तो पूँजीवाद के उदय के बाद ही हुई।

भारत में पूँजीवाद के विकास के साथ ही प्रवास सही मायनों में शुरू हुआ। अंग्रेजों के आने के बाद औपनिवेशिक जरूरतों के मातहत एक सीमित पूँजीवादी विकास हुआ। इस पूँजीवादी विकास के साथ ही प्रवास की शुरुआत हो गयी। खेती का भी एक हद तक बाज़ारीकरण हुआ और इसने भी इस प्रवास को बढ़ावा दिया। लेकिन आज़ादी से पहले तक यह प्रवास बहुत मामूली था। आज़ादी के बाद और उत्तर भारत में तो खास तौर पर तथाकथित हरित क्रान्ति के बाद भारी पैमाने पर प्रवास शुरू हुआ। औद्योगिक केन्द्रों और बड़े महानगरों के विकास और साथ ही उन्नत कृषि के क्षेत्रों के पैदा होने के साथ यह प्रवास बेहद तेज़ी से बढ़ा। जैसा कि हम पिछले अंक में दिखला चुके हैं, प्रवासियों को आकृष्ट करने वाला सबसे बड़ा केन्द्र बना दिल्ली। दिल्ली में देश के हर कोने से मजदूर रोज़ी-रोटी की तलाश में आते हैं। यह देखना और जानना हमारे लिए ज़रूरी है कि दिल्ली में किन इलाकों से कितने मजदूर आते हैं; कुछ इलाकों से ज़्यादा और कुछ इलाकों से कम क्यों आते हैं; दिल्ली में उनके आने की वजहें क्या रहती हैं; और, प्रवासी मजदूरों के प्रवास के समय के आधार पर अलग-अलग क्षेत्रों से होने वाले प्रवास का मूल्यांकन करना भी ज़रूरी है ।

## दिल्ली आने वाले मजदूरों का क्षेत्रीय ब्योरा

1991 की जनगणना के अनुसार दिल्ली की जनसंख्या 94,20,644 थी। इसमें शहरी आबादी 89.9 फ़ीसदी थी और 51 फ़ीसदी लोग काम करने योग्य थे। कुल योग्य मजदूरों की संख्या 29,68,000 के करीब थी। कुल प्रवासियों की संख्या 37,23,462 थी। इसमें रोज़गार के कारणों से आने वाले लोगों की संख्या 10,83,597 थी, व्यापार के लिए आने वाले लोगों की संख्या 1,63,863 थी, और शिक्षा के लिए आने वाले लोगों की संख्या 50,405 थी। जनगणना के अनुसार सबसे ज़्यादा लोग परिवारों के शिफ्ट करने और शादी के कारण दिल्ली

में आये। लेकिन यह आँकड़ा भरमाने वाला है क्योंकि परिवार के आने या शादी के कारण आने के बाद कोई बैठा नहीं रहता है बल्कि वह भी दिल्ली में काम करने वालों में शामिल हो जाता है। इसलिए वास्तव में यह भी मजदूर प्रवास में ही गिना जाना चाहिए भले ही आने की वजह उस समय रोज़गार न रही हो। दूसरी बात यह है कि शादी के कारण आने वाली महिलाएँ भी दिल्ली के कार्यबल में ही गिनी जायेंगी क्योंकि उनके घरेलू कामों को सँभाल लेने के कारण ही पुरुष बाहर पूरी क्षमता के साथ काम कर पाते हैं। यही नहीं, लाखों की संख्या में औरतें दिल्ली में घरों में गोटे लगाने, सिलाई, बुनाई, कढ़ाई, इमली बनाने, बादाम तोड़ने, बिन्दी बनाने, चूड़ी बनाने आदि का काम पीस रेट पर करती हैं और मुनाफ़ा निचोड़ने के तन्त्र का शिकार बनती हैं। इसलिए हमें रोज़गार के कारण से होने वाले प्रवास पर अधिक ध्यान नहीं देना चाहिए बल्कि इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि किसी भी कारण से दिल्ली आने के बाद वे लोग क्या कर रहे हैं। क्या वे बैठे हुए हैं? या वे भी मजदूरों की उस विशाल तादाद में इज़ाफ़ा कर रहे हैं।

1991 में अलग-अलग राज्यों से होने वाले प्रवास की स्थिति **तालिका 4** में स्पष्ट की गयी है। दिल्ली में आने वाले कुल प्रवासियों का करीब 90 प्रतिशत उत्तर प्रदेश, बिहार, झारखण्ड, हरियाणा, पंजाब, मध्यप्रदेश, राजस्थान और पश्चिम बंगाल से आता है, इसलिए हमने इन राज्यों से आने वाले प्रवासियों के अध्ययन पर जोर दिया है। तालिका से स्पष्ट है कि 1991 में सर्वाधिक प्रवास उत्तर प्रदेश से हो रहा था। आज भी स्थिति यही है। इस प्रवास में एक बड़ा हिस्सा पश्चिमी उत्तर प्रदेश से आने वाली निम्न मध्यमवर्गीय आबादी का है जो सरकारी दफ़्तरों, निजी कम्पनियों आदि में क्लर्क, सेल्स रिप्रेज़ेंटेटिव आदि जैसे काम

#### तालिका 4

कुल प्रवासियों की संख्या – 34,17,236 ( 1991 की जनगणना )

राज्य	प्रवासियों की संख्या	कुल प्रवासियों में हिस्सा ( प्रतिशत में )
बिहार	2,55,386	7.47
हरियाणा	4,48,669	13.12
पंजाब	2,40,752	7.04
राजस्थान	2,22,162	6.50
उत्तर प्रदेश	16,41,514	48.03

करती है। लेकिन ये आँकड़े जनगणना के हैं जिसमें सिर्फ़ स्थायी प्रवासियों की संख्या ही जोड़ी जाती है। इसमें वे प्रवासी नहीं शामिल हैं जो यात्री प्रवास करते हैं, यानी जो रोज़ दिल्ली के पास की जगहों, जैसे मेरठ, अलीगढ़, टूण्डला आदि से आ-जाकर दिल्ली में काम करते हैं। इसके अतिरिक्त ये आँकड़े पूर्वी उत्तर प्रदेश से होने वाले मौसमी प्रवास को भी ठीक-ठीक नहीं जोड़ पाते हैं। इन प्रवासियों में ऐसे मज़दूरों और ग़रीब किसानों की संख्या सबसे अधिक है जो खेती के मौसम में गाँव में मज़दूरी करते हैं, या अपनी ज़मीन के छोटे से टुकड़े पर खेती करने के साथ-साथ धनी किसानों के खेतों पर मज़दूरी करते हैं, और खेती का मौसम ख़त्म होने पर दिल्ली आकर रिक्शा चलाते हैं, रेहड़ी-खोमचे लगाते हैं, कारख़ानों में काम करते हैं, आदि। पूर्वी उत्तर प्रदेश के गोरखपुर, गोण्डा, बस्ती, देवरिया, जौनपुर, इलाहाबाद, महाराजगंज जैसे इलाकों से भारी पैमाने पर मज़दूर आते हैं। उत्तर प्रदेश से आने वाले प्रवासियों में मज़दूरों की संख्या ही अधिक है। उत्तर प्रदेश के बाद 1991 में सबसे अधिक प्रवास हरियाणा से हो रहा था। हरियाणा से दिल्ली आने वाले अधिकांश लोग मज़दूरी नहीं करते। वे आम तौर पर सरकारी विभागों में निम्न पदों पर कार्यरत हैं। मिसाल के तौर पर, दिल्ली में हरियाणा से आने वाले लोगों का भारी हिस्सा परिवहन (दिल्ली परिवहन निगम – डीटीसी) में ड्राइवर, कण्डक्टर, स्टाफ़ आदि के रूप में कार्यरत है। इसके अतिरिक्त नगर निगम जैसे सरकारी विभागों और पुलिस में बड़ी संख्या में हरियाणा के लोग हैं। इसलिए अगर हम प्रवासी मज़दूरों के बारे में बात करें तो उसमें हरियाणा से होने वाले प्रवास की चर्चा अधिक करना व्यर्थ होगा क्योंकि हरियाणा से होने वाले प्रवास में मज़दूर प्रवास बेहद कम है।

इसी प्रकार पंजाब से आने वाले अधिकांश प्रवासी व्यापार, दुकानदारी, प्रॉपर्टी डीलिंग, ठेकेदारी आदि जैसे कामों में लगे हैं। इनमें से एक बड़ी संख्या उन लोगों की है जो विभाजन के समय पाकिस्तान से आये शरणार्थी थे। ये अपने साथ कुछ ज़्यादा लेकर तो नहीं आये थे लेकिन सरकार से मिले मुआवज़े के दम पर इनमें से एक बड़ी संख्या ने दिल्ली में अपना छोटा-मोटा कारोबार जमा लिया। आज भी इनकी बड़ी संख्या छोटे व्यापारियों की है जो भाजपा और कांग्रेस दोनों के लिए ही एक प्रेशर ग्रुप का काम करते हैं। भाजपा और कांग्रेस इनकी उपेक्षा नहीं कर पाते। मिसाल के तौर पर, सीलिंग के दौरान जब इन व्यापारियों की दुकानें सील हो रही थीं, तो भाजपा इनके समर्थन में खुले तौर पर उतरी और वोट बैंक राजनीति को ध्यान में रखते हुए कांग्रेस को भी सीलिंग की रफ़्तार धीमी करनी पड़ी और नये मास्टर प्लान-2021 में उन्हें राहत भी देनी पड़ी है। पंजाब से आने वाले प्रवासियों का एक हिस्सा सरकारी दफ़्तरों में भी कार्यरत है।

राजस्थान से आने वाली आबादी की भारी जनसंख्या सरकारी नौकरियों में ही लगी है। लेकिन राजस्थान से मजदूरों और खास तौर पर निर्माण क्षेत्र में लगे मजदूरों का भी एक अच्छा-खासा हिस्सा है। मालूम हो कि दिल्ली का निर्माण शुरू होने पर जो मजदूर सबसे पहले यहाँ आये थे, वे राजस्थानी मजदूर ही थे जो दक्षिणी दिल्ली में भट्टी माइंस में रहते थे। आज भी उनके वंशज वहाँ देखे जा सकते हैं। राजस्थान से घुमन्तू जातियाँ भी दिल्ली में आती हैं लेकिन उनकी संख्या बहुत बड़ी नहीं है।

पश्चिम बंगाल से आने वाले लोगों का बड़ा हिस्सा दिल्ली में मजदूरी ही कर रहा है। इनमें एक बड़ी संख्या औद्योगिक मजदूरों की न होकर रिक्शेवालों, खोमचेवालों, घरेलू श्रमिकों आदि की है। ऐसा नहीं है कि बंगाल से आने वाले लोग कारखानों में नहीं हैं। लेकिन अधिकांश गैर-औद्योगिक मजदूर हैं।

2001 की जनगणना बताती है कि प्रवासियों के क्षेत्रीय व्योरों में काफी बदलाव आया है। बिहार से आने वाले प्रवासियों की संख्या बेहद तेजी से बढ़ी है। हरियाणा से होने वाले दिल्ली प्रवास में कोई खास बढ़ोत्तरी नहीं हुई है। उत्तर प्रदेश के प्रवासियों में वृद्धि भी प्रतीकात्मक ही रही है। लेकिन यह वृद्धि अधिक मानी जानी चाहिए क्योंकि उत्तरांचल बनने के बाद पहाड़ी क्षेत्रों से आने वाली आबादी उत्तरांचल के प्रवासियों के रूप में गिनी जायेगी। 2001 में अलग-अलग

### तालिका 5

**कुल प्रवासियों की संख्या – 57,35,604 ( 2001 जनगणना )**

राज्य	प्रवासियों की संख्या	कुल प्रवासियों में हिस्सा ( प्रतिशत में )
बिहार	2,55,386	7.47
बिहार	7,25,565	13.62
हरियाणा	5,55,173	10.42
पंजाब	2,56,119	4.80
राजस्थान	2,75,045	5.16
उत्तर प्रदेश	22,96,367	43.13
उत्तरांचल	3,02,406	5.60
पश्चिम बंगाल	1,71,904	3.22
झारखण्ड	1,12,716	2.11
योग	46,95,295	87.90

राज्यों से होने वाले प्रवास की स्थिति **तालिका 5** में दी गयी है।

तालिका 5 से साफ़ है कि दिल्ली में होने वाले प्रवास में सबसे अधिक वृद्धि बिहार से होने वाले प्रवास के कारण हुई है। हालाँकि बिहार से झारखण्ड अलग हुआ है लेकिन फिर भी बिहार से आने वाले प्रवासी दिल्ली के कुल प्रवासियों का 13.62 प्रतिशत हिस्सा बनते हैं। अगर झारखण्ड से आने वाले प्रवासियों को जोड़ दिया जाये तो यह संख्या 15.73 प्रतिशत हो जाती है। गौरतलब है कि दिल्ली में बिहारी प्रवासियों का प्रतिशत 1991 में मात्र 7.47 प्रतिशत था। यानी दोगुने से भी अधिक वृद्धि बताने की आवश्यकता नहीं है कि दिल्ली में आने वाले बिहारी प्रवासियों का 90 प्रतिशत हिस्सा मजदूरों का है। 1991 से 2001 के बीच के समय में दिल्ली में निर्माण का काम पूरे ज़ोरों पर था। इसी बीच कई बड़े फ़्लाईओवर, एक्सप्रेस वे, 8-लेन की सड़कें, इमारतें, कालोनियाँ और खास तौर पर दिल्ली मेट्रो का काम शुरू हुआ। इन सभी कार्यों के चलते दिल्ली में इस दौरान भारी पैमाने पर मजदूरों का आगमन हुआ। इन मजदूरों में से आधे से ज़्यादा बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश से आये। इसलिए बिहारी मजदूरों की संख्या में भारी वृद्धि कोई अचरज की बात नहीं है।

बिहार से होने वाले प्रवास का एक अध्ययन ('माइग्रेशन फ़ॉर्म रूरल बिहार एण्ड झारखण्ड' - हरिशंकर दयाल व अनूप कुमार करन) बताता है कि जनगणना में तो सिर्फ़ लम्बे समय तक होने वाले प्रवास को जोड़ा जाता है। छोटे समय के लिए होने वाले प्रवास को तो जनगणना जोड़ती ही नहीं है। 1991 का राष्ट्रीय ग्रामीण मजदूर आयोग बताता है कि उस समय कुल 1 करोड़ चक्रीय प्रवासी थे, जो थोड़े-थोड़े समय के लिए बाहर काम के लिए जाते थे और फिर वापस आ जाते थे। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के 43वें चक्र की सूचना के अनुसार कुल ग्रामीण मजदूरों का 1.8 प्रतिशत हिस्सा पास के शहरी केन्द्रों में आ-जाकर काम करता है। कई अध्ययनों ने इस संख्या में भारी बढ़ोत्तरी दिखायी है। बिहार श्रम का प्रमुखतम निर्यातक है, और वह भी सबसे सस्ते श्रम का। हरिशंकर दयाल और अनूप कुमार करन ने बिहार के 36 और झारखण्ड के 12 गाँवों में सर्वेक्षण के आधार पर बताया है कि लगभग 12 प्रतिशत ग्रामीण पुरुष बिहारी मौसमी प्रवासी मजदूर होते हैं, 9 प्रतिशत ग्रामीण पुरुष बिहारी स्थायी प्रवासी होते हैं; इसके अतिरिक्त 0.74 प्रतिशत ग्रामीण बिहारी स्त्रियाँ मौसमी प्रवासी होती हैं और 0.41 प्रतिशत ग्रामीण बिहारी स्त्रियाँ स्थायी प्रवासी होती हैं। ध्यान रहे यहाँ सिर्फ़ ग्रामीण बिहार निवासियों की बात की जा रही है। बिहार के कस्बाई क्षेत्रों और शहरों से भी एक बड़ी आबादी दिल्ली जैसे श्रम चुम्बक केन्द्रों की ओर आ रही है। इसी अध्ययन में यह भी बताया गया कि मध्य किसान जातियों में

प्रवास की दर सबसे कम है जबकि उच्च जातियों के ग़रीब हो गये परिवारों से प्रवास की दर काफ़ी ज़्यादा है। साथ ही ग़ैर-किसान मध्य जातियों, ग़रीब किसानों और मुसलमानों के बीच से भी बाहर काम करने के लिए जाने वाले मज़दूरों की संख्या काफ़ी ज़्यादा है। एक और बात जो इस अध्ययन से सामने आयी वह यह थी कि भूस्वामी परिवारों से और ग़ैर-कृषक परिवारों से होने वाला प्रवास आम तौर पर स्थायी प्रवास होता है, जबकि छोटी या मँझोली जोत से बँधी किसानों का प्रवास आम तौर पर यात्री प्रवास, चक्रीय प्रवास और लघुकालिक मौसमी प्रवास होता है। ये बातें बेहद ध्यान देने योग्य हैं।

जब तक भारत के उभरते औद्योगिक केन्द्रों में ज़्यादा मज़दूर खपा पाने की ताक़त नहीं थी तब तक सरकार ने तथाकथित किसानों समर्थक नीतियाँ लागू कर रखीं थीं। सरकार की तमाम योजनाएँ थीं जो ऋण आदि के ज़रिये छोटी किसानों को उजड़ने से बचाये रखती थीं। तमाम सब्सिडियाँ दी जाती थीं। लेकिन नयी आर्थिक नीतियों के लागू होने के बाद और नये औद्योगिक और शहरी केन्द्रों के विकसित होने के बाद इन नीतियों को एक-एक करके तिलांजलि दी जाने लगी। वजह यह थी कि अब इन नये औद्योगिक केन्द्रों और शहरी केन्द्रों में इतनी क्षमता पैदा हो चुकी थी कि वे गाँवों से उजड़ने वाले ग़रीब और निम्न मध्यम किसानों को खपा सके। साथ ही, ग़ैर-खेतिहर ग्रामीण आबादी को गाँव में रोकने के लिए जो तमाम स्वरोजगार ऋण योजनाएँ लागू थीं, एक-एक करके उन्हें भी ख़त्म किया जा रहा है। अब इन योजनाओं की कोई ज़रूरत नहीं है। यही कारण है कि बिहार से होने वाले प्रवास में विशेषकर पिछले 10 वर्षों में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है।

लगभग सभी राज्यों से होने वाले प्रवास में वृद्धि हुई है। लेकिन जो ग़ैर श्रम-आपूर्तिकर्ता राज्य थे, प्रवासियों में उनका हिस्सा घटा है। मिसाल के तौर पर हरियाणा और पंजाब। और पूरे यकीन के साथ कहा जा सकता है कि यही रुझान आने वाले लम्बे समय तक बना रहेगा।

जहाँ तक प्रवासियों के क्षेत्रीय ढाँचे का प्रश्न है यह कहा जा सकता है कि आने वाले समय में दिल्ली में उन राज्यों से सबसे अधिक प्रवासी आयेंगे जो लेबर-सप्लायर बेल्ट हैं, खास तौर पर बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश। यह बात अलग है कि उन्हें दिल्ली के किनारे के पिछड़े इलाकों में खदेड़ कर रखा जायेगा और नांगलोई, नरेला, भलस्वा, कंझावला, आदि जैसे इलाकों में झुग्गी-झोपड़ियों में बसाया जायेगा। जैसे-जैसे राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र विस्तारित होगा वैसे-वैसे उन्हें और किनारे खदेड़ा जायेगा। लेकिन यह शासन उन्हें दिल्ली से बहुत दूर नहीं कर सकता। अगर वे दूर हो गये तो दिल्ली को चलायेगा कौन? आने वाले समय में

दिल्ली अमीरज़ादों की जगह बन जायेगी। काफी हद तक तो पहले ही बन चुकी है। यहाँ ऐशो-आराम का हर सामान होगा। दिल्ली ऐश्वर्य का एक टापू होगा। लेकिन मेहनतकशों के गुस्से और नफरत के बारूद से घिरा हुआ। सरकार कुछ नहीं कर सकती है, सिवाय इसके कि बीच-बीच में कुछ हज़ार मज़दूरों को

### तालिका 6

#### राज्य व समयावधि के अनुसार प्रवास के आँकड़े ( 1991 की जनगणना )

राज्य	सभी कालखण्ड	एक वर्ष से कम	1-4 वर्ष	5-9 वर्ष	10 वर्ष से अधिक
बिहार	2,55,386 (7.47%) (100%)	14,066 (9.94%) (5.50%)	84,483 (10.51%) (33%)	71,060 (9.64%) (27.82%)	82,294 (4.14%) (32.22%)
हरियाणा	4,48,669 (13.12%) (100%)	13,815 (9.77%) (3%)	84,650 (10.53%) (18.86%)	84,082 (11.41%) (18.74%)	2,60,184 (13.12%) (57.99%)
पंजाब	2,40,752 (7.04%) (100%)	5609 (3.96%) (2.32%)	47,052 (5.85%) (19.54%)	31,145 (4.22%) (12.93%)	1,53,703 (7.75%) (63.84%)
राजस्थान	2,22,162 (6.50%) (100%)	9788 (6.92%) (4.40%)	41,657 (5.18%) (18.75%)	43,837 (5.96%) (19.73%)	1,23,267 (6.21%) (55.48%)
उत्तर प्रदेश	16,41,514 (48.03%) (100%)	55,307 (39.12%) (3.3%)	3,42,276 (42.59%) (20.85%)	3,68,331 (50%) (22.43%)	8,54,387 (43.08%) (45.35%)
पश्चिम बंगाल	81,049 (2.37%) (100%)	3352 (2.37%) (4.13%)	21,388 (2.66%) (26.38%)	18,389 (2.49%) (22.68%)	36,756 (1.85%) (29.79%)
नोट : सम्बन्धित समयावधि के लिए होने वाले कुल प्रवास में प्रतिशत हिस्सा नीचे के पहले कोष्ठकों में दिया गया है और दूसरे कोष्ठकों में उस राज्य से होने वाले कुल प्रवास का प्रतिशत हिस्सा बताया गया है।					

कभी प्रदूषण तो कभी अनधिकृत निवास के नाम पर कुछ दूर और खदेड़ दे। अभी ही पूरे राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र, जिसमें नोएडा, गज़ियाबाद, गुड़गाँव, फरीदाबाद भी शामिल हैं, में मज़दूरों की आबादी 30 से 40 लाख के बीच है। यह तो एक मोटा अनुमान है। यह संख्या इससे कहीं ज़्यादा होगी, क्योंकि 1991 में सिर्फ़ दिल्ली में ही कुल प्रवासी मज़दूरों की संख्या 16,73,136 थी।

## प्रवास के समय के अनुसार और राज्य के अनुसार मज़दूरों का वितरण

प्रवास का समय भी प्रवासियों के बारे में काफ़ी कुछ बताता है। छोटे समय के लिए होने वाला प्रवास आम तौर पर ग़रीबों के बीच अधिक होता है। अल्पकालिक प्रवास करने वाले हर 5 में से 4 लोग मज़दूर होते हैं। निम्न मध्यवर्ग और मध्यवर्ग से होने वाला प्रवास या तो स्थायी होता है या फिर दीर्घकालिक। 1991 में समयावधि के अनुसार दिल्ली में होने वाले प्रवास का वितरण तालिका 6 में दिया गया है। तालिका में दिये गये आँकड़े बताते हैं कि 1991 में 1 वर्ष से कम समय के लिए होने वाला प्रवास कुल प्रवास का मात्र 4.13 प्रतिशत था। लेकिन तमाम अध्ययनों ने दिखलाया है कि कम समय के लिए होने वाले प्रवास को जोड़ने में जनगणना बुरी तरह असफल रहती है। अलग-अलग राज्यों से अलग-अलग समयखण्ड के लिए होने वाले प्रवास को तालिका 7 में दिखलाया गया है। तालिका में दिये गये आँकड़ों से साफ़ है कि बिहार से होने वाले लघुकालिक प्रवास का हिस्सा कुल लघुकालिक प्रवास में अच्छा-खासा है और बिहार कम समय के लिए होने वाले प्रवास, मौसमी प्रवास, यात्री प्रवास के लिए मुख्य रूप से उत्तरदायी है। हम पहले ही बता चुके हैं कि इस प्रकार का प्रवास आम तौर पर मज़दूर ही करते हैं। बिहार से आने वाले कुल प्रवासियों का 33 प्रतिशत हिस्सा सिर्फ़ 1 से 4 वर्ष के लिए आता है। बिहार से होने वाला स्थायी

तालिका 7			
कुल प्रवासी – 34,17,236 ( 1991 जनगणना )			
समयावधि			
1 वर्ष से कम	1-4 वर्ष	5-9 वर्ष	10 वर्ष से अधिक
1,41,373	8,03,591	7,36,609	19,83,049
(4.13%)	(23.51%)	(21.55%)	(58.03%)



(10 वर्ष से अधिक) प्रवास बिहार से कुल प्रवास का सिर्फ 32.22 प्रतिशत हिस्सा है। जबकि पंजाब के लिए यह हिस्सा 63.84 प्रतिशत, हरियाणा के लिए लगभग 58 प्रतिशत, राजस्थान के लिए 55.48 प्रतिशत, और उत्तर प्रदेश के लिए 45.35 प्रतिशत है। इन आँकड़ों से अलग-अलग राज्यों में हुए असमान पूँजीवादी विकास और राज्यों के वर्ग चरित्र के बारे में काफी कुछ पता चलता है।

### तालिका 8

#### राज्य व समयावधि के अनुसार प्रवास के आँकड़े (2001 की जनगणना)

राज्य	सभी कालखण्ड	एक वर्ष से कम	1-4 वर्ष	5-9 वर्ष	10 वर्ष से अधिक
बिहार	8,38,283	28,106	2,37,284	2,24,355	3,21,192
+	(15.73%)	(18.23%)	(21.45%)	(20.51%)	(9.83%)
झारखण्ड	(100%)	(3.35%)	(28.30%)	(26.76%)	(38.31%)
हरियाणा	5,55,173	10,563	78,944	85,382	3,58,321
	(10.42%)	(6.85%)	(7.13%)	(7.80%)	(10.97%)
	(100%)	(3%)	(18.86%)	(18.74%)	(64.54%)
पंजाब	2,56,119	2912	22,288	25,395	1,94,332
	(4.80%)	(1.88%)	(2.01%)	(2.32%)	(5.95%)
	(100%)	(1.13%)	(8.70%)	(9.91%)	(75.87%)
राजस्थान	2,75,119	6,065	40,883	43,369	1,73,558
	(5.16%)	(3.93%)	(3.69%)	(3.96%)	(5.31%)
	(100%)	(2.20%)	(14.86%)	(15.76%)	(63.08%)
उत्तर प्रदेश	25,98,773	56,987	4,51,305	4,95,084	14,99,832
+	(48.73%)	(36.96%)	(40.79%)	(45.26%)	(45.93%)
उत्तरांचल	(100%)	(2.19%)	(17.36%)	(19.05%)	(57.71%)
पश्चिम बंगाल	1,71,904	5,738	43,288	37,223	36,756
	(3.22%)	(3.72%)	(3.91%)	(3.40%)	(2.43%)
	(100%)	(3.33%)	(25.18%)	(21.65%)	(46.23%)

नोट : सम्बन्धित समयावधि के लिए होने वाले कुल प्रवास में प्रतिशत हिस्सा नीचे के पहले कोष्ठकों में दिया गया है और दूसरे कोष्ठकों में उस राज्य से होने वाले कुल प्रवास का प्रतिशत हिस्सा बताया गया है।

2001 की जनगणना के आँकड़ों के अनुसार बिहार और झारखण्ड के मजदूरों का प्रवास सर्वाधिक तेज़ रफ़्तार से बढ़ा है। साथ ही वहाँ से होने वाले प्रवास में अल्पकालिक प्रवासियों के हिस्से में बढ़ोत्तरी हुई है जबकि अन्य राज्यों से हो रहे प्रवास में दीर्घकालिक प्रवासियों का प्रतिशत हिस्सा बढ़ा है। यह स्वतः ही बिहार से बढ़ रहे मजदूर प्रवास को दर्शाता है। तालिका 7 और तालिका 8 में दिये गये आँकड़ों की तुलना करने से ही स्थिति बिल्कुल साफ़ हो जाती है। इस शृंखला की आखिरी कड़ी में हम यह देखने का प्रयास करेंगे कि दिल्ली में अलग-अलग सेक्टरों में कितने मजदूर काम कर रहे हैं। मजदूरों की रिहायश की स्थिति की चर्चा हमने पिछले अंक में की थी। सोचने की बात यह भी है कि यह रिहायश, चाहे जैसी भी हालत में हो, कितनी स्थायी होती है। पिछले 30 वर्षों में दिल्ली में सैकड़ों बार मजदूरों को एक जगह से उजाड़कर दूसरी जगह, दूसरी जगह से उजाड़कर तीसरी जगह खदेड़ा जाता रहा है। आपातकाल के दौरान 1976 में तुर्कमान गेट से आम लोगों को उजाड़कर नन्दनगरी और त्रिलोकपुरी खदेड़ा गया। उसमें से भी सभी को प्लॉट नहीं मिला। बहुत से उजड़े तो उजड़े ही गये। यमुना पुश्ता पर तो हर साल ही मजदूरों को उजाड़ा जाता है। कभी साज़िशाना तरह से आग लगवाकर तो कभी सरकारी आदेश पर। वज़ीरपुर, नारायणा, मायापुरी, कर्मपुरा, शाहदरा के मजदूरों को उजाड़ने की प्रक्रिया लगातार जारी है। उन्हें दिल्ली में नये इलाकों में बसाया जा रहा है जो बिल्कुल किनारों पर हैं। दिल्ली का हर मास्टर प्लान पूरी तरह से अमीरों के पक्ष में खड़ा होता है और उनकी ज़रूरतों के हिसाब से कभी मजदूरों को दिल्ली में बसाता है और ज़रूरत पूरी हो जाने पर उन्हें बाहर की ओर खदेड़ता जाता है। वोट बैंक की राजनीति के कारण मध्यवर्ग और निम्न मध्यवर्ग का कुछ समय तक ख़याल रखा जा रहा है। हालाँकि आने वाले समय में उन्हें भी दिल्ली के किनारों पर धकेल दिया जायेगा। दिल्ली के नये मास्टर प्लान-2021 की अधिसूचना 7 फ़रवरी को जारी हो चुकी है और इस बार भी अमीरों के हितों को सुरक्षित रखने का काम बड़े करीने और सलीके के साथ किया गया है।

## मास्टर प्लान-2021

### - पूँजी के मास्टरों (स्वामियों) का प्लान

2001 और उससे पहले 1962 में मास्टर प्लान की सोच यह थी कि नोएडा, गाज़ियाबाद, फरीदाबाद आदि जैसे सैटेलाइट शहरों के विकास के बाद कामगारों की बड़ी आबादी को इन जगहों पर खदेड़ दिया जायेगा और दिल्ली पर से

जनसंख्या (जिसका मतलब हमेशा मेहनतकश जनता ही होता है) का दबाव ख़त्म हो जायेगा। लेकिन अभी हाल ही में दिल्ली सरकार ने स्वीकारा है कि सैटेलाइट शहरों की योजना पूरी तरह असफल रही है और उल्टा असर हुआ है। जहाँ उम्मीद यह थी कि दिल्ली में काम करने वाले इन शहरों में जाकर रहेंगे और काम करेंगे और दिल्ली पर बोझ कम होगा, वहाँ हुआ यह है कि अब इन शहरों में खुद ही इतना अधिक विकास हुआ है कि वहाँ काम करने वाले लोग दिल्ली आकर रह रहे हैं। इस मास्टर प्लान में इस समस्या के समाधान के लिए हमेशा की तरह तलवार मजदूरों के सिर पर गिरायी जाने वाली है।

अभी जब हाल ही तक दिल्ली में सीलिंग अभियान जारी था और सारे खाये-अघाये-मुटियाये व्यापारी और उनके हष्ट-पुष्ट बीबी-बच्चे सड़कों पर प्रदर्शन का विद्रूप दृश्य उपस्थित कर रहे थे और 'मार डाला-मार डाला' का कोरस गा रहे थे, तो भाजपा आक्रामक मुद्रा में व्यापारियों की असली हितसाधक बन रही थी, तो कांग्रेस रक्षात्मक मुद्रा में हाथ खड़े करके कह रही थी कि हम क्या कर सकते हैं, यह तो कोर्ट का आदेश है; हम इसे रुकवाने की कोशिश करेंगे; हमें व्यापारियों के साथ पूरी सहानुभूति है! अब जबकि दिल्ली के विधानसभा चुनाव करीब आ गये हैं तब नये मास्टर प्लान की सूचना जारी की गयी है और उसमें व्यापारियों का खूब खयाल रखा गया है। कांग्रेस की समझ में आ गया है कि दिल्ली में व्यापारियों को नाराज़ करना ठीक नहीं है। हाँ, साथ ही सेवा क्षेत्र में लगी उस आबादी को भी कांग्रेस नाराज़ नहीं करना चाहती जो आधुनिक किस्म का विकास चाहती है और सड़कों पर दुकानों की घिच-पिच को नापसन्द करती है। इसलिए छोटे व्यापारियों को उजाड़ने की मुहिम जारी रहेगी। लेकिन मध्यम और उच्च मध्यम व्यापारियों को तो लगभग पूरी राहत दे दी गयी है।

यह मास्टर प्लान दिल्ली का और अधिक व्यापारीकरण करेगा। मास्टर प्लान कहता है कि यह निम्न मध्यम और मध्यम आय समूह वाली कालोनियों में मिश्रित भूमि उपयोग की इजाज़त देगा। यानी कोई भी वहाँ अपने घर में दुकान खोल सकता है। यानी मॉडल टाउन, गुजरांवाला टाउन, अशोक विहार, शालीमार बाग़, रोहिणी, पीतमपुरा, आदि जैसे व्यापारियों-बनियों की बहुलता वाले इलाकों में और भयंकर व्यापारीकरण होगा। यह दिल्ली की 2000 सड़कों के किनारे चल रही दुकानों को चलने की अनुमति देता है। वैसे तो मन्त्रालय ने 1400 अनधिकृत कालोनियों को नियमित करने के लिए कैबिनेट को प्रार्थना भेजी है लेकिन इसमें दो बातें गौर करने वाली हैं। एक तो यह कि यह प्रार्थना स्वीकार होगी या नहीं होगी, कब होगी, तब तक इन कालोनियों को उजाड़ा जायेगा या नहीं, इसके बारे

में कुछ नहीं कहा गया है। दूसरी बात यह है कि इसमें से कुछ ही कालोनियाँ ऐसी हैं जिन्हें मजदूर कालोनियाँ कहा जा सकता है। अधिकांश जगहें भूतपूर्व गाँव हैं जो दिल्ली के विस्तार के साथ शहर के बीचों-बीच आ गये और काफी महँगे इलाक़े बन गये और कुछ बनने वाले हैं। झुग्गियों और अनधिकृत मजदूर कालोनियों और औद्योगिक इलाक़ों के भीतर बनी झुग्गी बस्तियों के बारे में सरकार अपनी पुरानी नीति पर कायम है — उजाड़ने की नीति पर! बस यह कहा गया है कि मजदूरों के लिए आवास बनाये जायेंगे। ये आवास दिल्ली के किनारे के इलाक़ों में होंगे और उसमें भी सभी उजाड़े गये मजदूरों को जगह नहीं मिल जायेगी। एक बड़ी आबादी लगातार जबरन घुमन्तू बनाये रखी जायेगी, जो 3, 6, 8 या 10 महीने या एक साल के लिए काम के अनुसार अस्थायी तौर पर इधर-उधर बसेगी और काम पूरा होने पर उजाड़ दी जायेगी। स्कूलों और प्लेव और कोचिंग सेण्टरों के जरिये लाखों रुपये पीटने वालों को रिहायशी इलाक़ों में अगले तीन वर्षों तक और पैसा पीटने और फिर कहीं और बेहतर इन्तज़ाम कर लेने के लिए मोहलत दे दी गयी है।

मजदूरों के लिए कहीं कोई राहत नहीं है। वे कांग्रेस और भाजपा की चिन्ता का, और किसी भी चुनावबाज़ मदारी की चिन्ता का केन्द्र नहीं हैं। मास्टर प्लान उनको कहीं कोई राहत नहीं देता है और दिल्ली में गगनचुम्बी इमारतों के निर्माण की योजना सामने रखता है। प्लान कहता है कि अब शहर का क्षैतिज विकास नहीं किया जायेगा बल्कि ऊर्ध्वाधर (यानी ऊपर की ओर) विकास किया जायेगा। इन गगनचुम्बी इमारतों को बनवाने के लिए मजदूरों को नरेला, बवाना, बादली, भलस्वा, कंझावला, नांगलोई एक्स. में रिहायश दे दी जायेगी। जब ये स्काईस्क्रैपर्स बन जायेंगे और दिल्ली और फैलेगी तो उन्हें वहाँ से उजाड़कर और किनारे खदेड़ा जायेगा।

लेकिन इस पूरी प्रक्रिया में मजदूरों के एक विशाल महासमुद्र से दिल्ली घिरती जायेगी जो दूरगामी तौर पर मजदूरों के लिए एक अच्छी बात है। आज ही दिल्ली के किनारों पर मजदूरों का एक जनसमुद्र उमड़-घुमड़ रहा है। यह आने वाले समय में सरकारी शहरी विकास की योजना (यानी दिल्ली को अमीरज़ादों की जागीर और पतनशील ऐशो-आराम का अड्डा बनाने की योजना) के कारण और बढ़ेगा और इससे तमाम योजनाकार चिन्तित भी कम नहीं हैं। लेकिन अफ़सोस कि वे ज़्यादा कुछ कर नहीं सकते। भूमण्डलीकरण के इस दौर में भारत का वैश्विक चेहरा तो दिल्ली ही है। उसे 'विश्व शहर' बनाने की योजना पर तो शासक वर्गों को अमल करना ही पड़ेगा। और पूँजी के नैसर्गिक प्रवाह में यह होना ही है कि कुछ मेगा शहर इस रूप में विकसित होंगे जो अन्दर से

चमक-दमक और ऐश्वर्यपूर्ण होंगे लेकिन बाहर से मजदूरों की विशाल आबादी से घिरे होंगे। यह होना ही है।

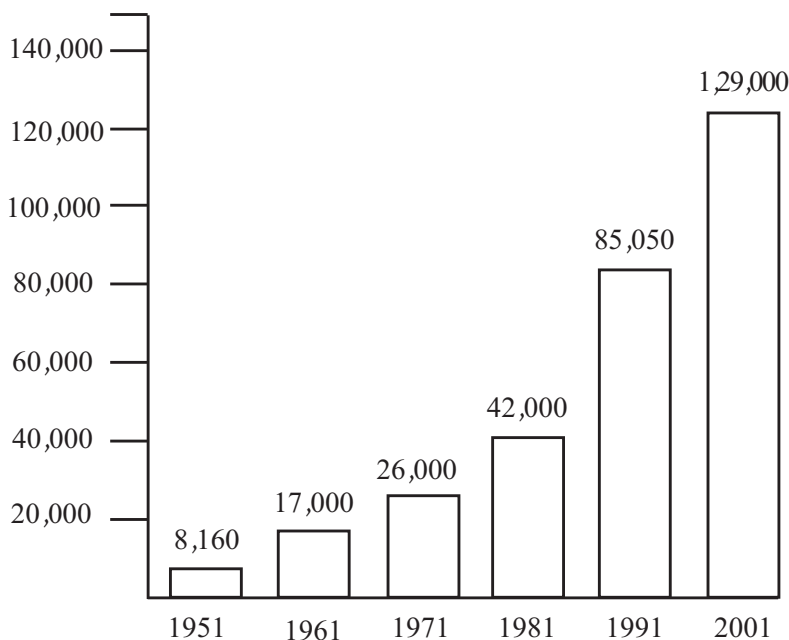


हम पहले भी बता चुके हैं, दिल्ली पारम्परिक रूप से कोई औद्योगिक केन्द्र नहीं रहा है। एक दौर में यहाँ कुछ बड़े उद्योग स्थापित किये गये लेकिन 80 के दशक की शुरुआत से ही जारी अनौपचारिकीकरण की प्रक्रिया के तहत एक-एक करके डीसीएम और बिड़ला कॉटन मिल जैसी बड़ी मिलें बन्द होती गयीं और छोटी-छोटी औद्योगिक इकाइयों की संख्या तेज़ी से बढ़ी। दिल्ली में छोटे उद्योग तो शुरू से ही काफ़ी ज़्यादा थे। लेकिन इनकी संख्या विशेषकर 1981 के बाद तेज़ी से बढ़ी। 1981 के बाद से इनकी संख्या बढ़कर लगभग

**तालिका 9**

**दिल्ली में छोटे पैमाने के उद्योगों में वृद्धि**

इकाइयों की संख्या



स्रोत : आर्थिक सर्वेक्षण 2003-04, दिल्ली राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र सरकार

तिगुनी हो गयी है।

दिल्ली में छोटे पैमाने के उद्योगों में वृद्धि की एक तस्वीर तालिका 9 से मिलती है। इस तालिका को देखकर साफ़ हो जाता है कि दिल्ली में छोटे उद्योगों या दूसरे शब्दों में कहें तो अनौपचारिक क्षेत्र के उद्योगों का तो तेज़ी से विकास हुआ है, लेकिन संगठित क्षेत्र के उद्योगों में लगातार कमी आयी है।

दिल्ली में मज़दूरों की माँग में तेज़ी से वृद्धि हुई है। 2001 की जनगणना के अनुसार 1991 में दिल्ली की कार्यशक्ति, यानी कुल कार्य करने योग्य आबादी 49 प्रतिशत थी जो 2001 में बढ़कर 53 प्रतिशत हो गयी। दिल्ली के औद्योगिक क्षेत्र में 2001 में 14 लाख मज़दूर काम कर रहे थे। लेकिन याद रहे यह आँकड़ा पूरी सच्चाई को बयान नहीं करता क्योंकि इसमें सिर्फ़ उद्योगों में काम करने वाले मज़दूर शामिल हैं। इसमें रिक्शेवाले, खोमचेवाले, रेहड़ीवाले, छोटे-मोटे काम-धन्धे में लगे लोग और घरेलू नौकर शामिल नहीं हैं। अगर इस असंगठित कार्यशक्ति को भी जोड़ दिया जाये तो यह आबादी 50 से 60 लाख के बीच बैठेगी। अब दिल्ली के मज़दूरों का सेक्टर के अनुसार विश्लेषण किया जाये तो तस्वीर और भी साफ़ हो जाती है। सीधे-सीधे किसी उद्योग में लगी आबादी में भी जो वृद्धि हुई है वह ज़बर्दस्त है। इसे तालिका 10 में प्रदर्शित किया गया है।

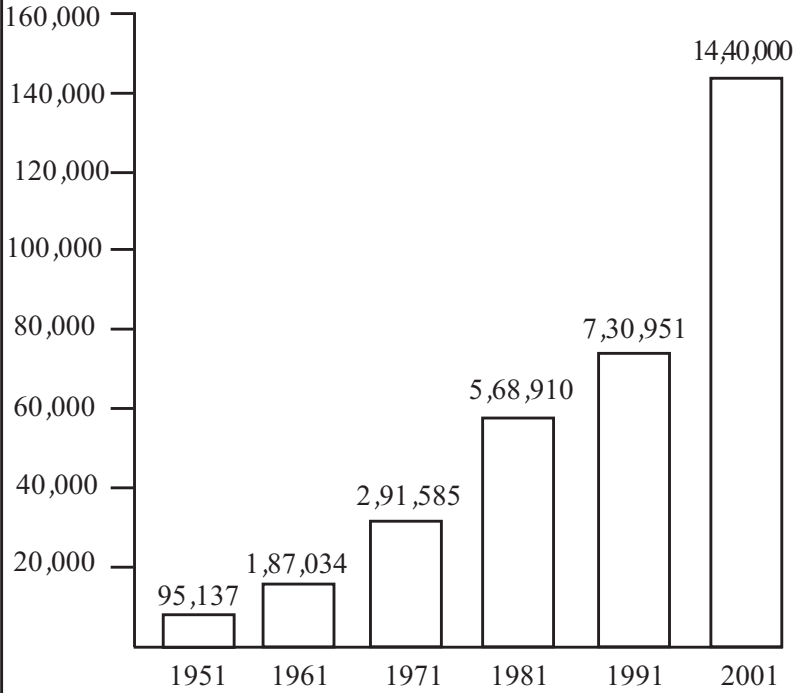
## संगठित क्षेत्र में रोज़गार की स्थिति

संगठित क्षेत्र में रोज़गार आम तौर पर शिक्षित, अर्द्धशिक्षित, कुशल व अर्द्धकुशल मज़दूरों को ज़्यादा मिलता है। इस क्षेत्र में काम करने वाली एक बड़ी आबादी को सीधे-सीधे मज़दूर नहीं माना जा सकता। तमाम सरकारी विभागों में काम करने वाली आबादी भी इसमें शामिल है। रिहायश, रहन-सहन और बुनियादी सुविधाओं की उपलब्धता के मानदण्ड को मानकर चलें तो यह आबादी मध्यवर्ग और निम्न मध्यवर्ग में गिनी जायेगी। संगठित क्षेत्र में जिस रोज़गार को अब ठेके पर दिया जाने लगा है और साथ ही चपरासी और स्काई कर्मचारी जैसे रोज़गार ही मुख्य रूप से वे रोज़गार हैं जिनमें लगे लोगों को मज़दूर के रूप में गिना जा सकता है। दिल्ली की संगठित कार्यशक्ति का करीब 75 प्रतिशत सरकारी प्रतिष्ठानों में नौकरी करता है। औरतों के लिए सरकारी प्रतिष्ठान ही संगठित क्षेत्र में रोज़गार देने वाले प्रमुख स्रोत हैं। दिल्ली सरकार के प्रतिष्ठानों में लगी कुल आबादी का 15 प्रतिशत महिलाएँ हैं। लेकिन गौरतलब बात यह है कि महिलाओं में अधिकांश वर्ग 3 या वर्ग 4 श्रेणी में लगी हुई हैं। एक बहुत छोटा हिस्सा है

## तालिका 10

### दिल्ली में औद्योगिक क्षेत्र में कार्यशक्ति में हुई वृद्धि

इकाइयों की संख्या



स्रोत : आर्थिक सर्वेक्षण 2003-04, दिल्ली राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र सरकार

जो ऊपरी पदों पर आसीन है।

संगठित कार्यशक्ति का सिर्फ 25 प्रतिशत हिस्सा ही ऐसा है जो निजी क्षेत्र में रोज़गार कर रहा है। संगठित क्षेत्र में रोज़गार वितरण की स्थिति तालिका 11 में प्रदर्शित की गयी है। इस क्षेत्र में जो रोज़गार वृद्धि हुई है, वह कुल कार्यशक्ति में हुई वृद्धि के हिसाब से मामूली है। कार्यशक्ति में हुई वृद्धि के लिए मुख्य रूप से असंगठित क्षेत्र जिम्मेदार है। उसका विश्लेषण हम इसके बाद करेंगे।

तालिका 11 से स्पष्ट है कि संगठित क्षेत्र में निजी क्षेत्र का हिस्सा बेहद कम है। सरकारी उपक्रमों में लगातार छुट्टी की प्रक्रिया और सरकारी उपक्रमों के अलग-अलग कामों को ठेके पर निजी हाथों में सौंपने का काम जारी है। यानी

## तालिका 11

### दिल्ली में संगठित क्षेत्र में रोज़गार वितरण की स्थिति

31 मार्च 2004 को  
रोज़गार (हज़ार में)

कुल

#### सार्वजनिक क्षेत्र

केन्द्रीय सरकारी उपक्रम	212.3
प्रान्तीय सरकारी उपक्रम	120.5
अर्द्धसरकारी (केन्द्रीय)	158.6
अर्द्धसरकारी (प्रान्तीय)	35.3
स्थानीय निकाय	93.1
कुल	619.8

#### निजी क्षेत्र

बड़े संस्थान	160.0
छोटे संस्थान	59.2
कुल	219.2

**दिल्ली में कुल संगठित क्षेत्र का रोज़गार 839.0**

स्रोत : योजना विभाग, दिल्ली सरकार

सरकारी उपक्रम जिस तरह पहले संगठित क्षेत्र का पर्याय बना हुआ था, अब वैसा नहीं रह गया है। सरकारी उपक्रमों में ठेकाकरण और निजीकरण की प्रक्रिया गति पकड़ चुकी है। दूसरी ओर निजी संस्थानों को कई ऐसे काम सौंपे जा रहे हैं जो परम्परागत रूप से सरकार के काम होते हैं। मसलन, सड़क यातायात व्यवस्था में अब निजी कम्पनियों की मदद लेने की शुरुआत के संकेत मिलने लगे हैं। हम सभी जानते हैं कि निजी संस्थान संगठित और सुरक्षित रोज़गार की संख्या कम से कम रखते हैं और ऊपरी पदों पर काम करने वाले तकनीशियनों आदि के अतिरिक्त बाकी कार्यशक्ति को अस्थायी आधार पर ही नौकरी देने में दिलचस्पी रखता है। कुल मिलाकर नतीजा यह हो रहा है कि संगठित क्षेत्र के रोज़गार की संख्या घटती जा रही है और सरकारी उपक्रमों तक में ठेकाकरण के कारण असंगठित और अस्थायी मज़दूरों की संख्या बढ़ती जा रही है। यूनियन बनाने और संगठित होने का विशेषाधिकार अब तथाकथित संगठित मज़दूरों के पास ही रह गया है, जिन्हें “कर्मचारी” कहा जाता है, हालाँकि उनके सिर पर



भी छँटनी की तलवार हमेशा लटकी रहती है। निचले संस्तरों पर काम करने वाले ठेका मजदूरों के लिए कार्यस्थल पर संगठित होने को ज़्यादा से ज़्यादा कठिन बना दिया गया है जिससे उनकी मोलभाव की क्षमता नगण्य हो जाती है और वे एक अरक्षित मजदूर वर्ग की तरह अपना अति-शोषण करवाने को मजबूर हैं।

## असंगठित क्षेत्र में मजदूरों की स्थिति

दिल्ली के असंगठित क्षेत्र में मजदूरों की संख्या करीब 43 लाख है। दिल्ली के असंगठित क्षेत्र में काम करने वाले कुल मजदूरों का लगभग एक-तिहाई हिस्सा व्यापारिक प्रतिष्ठानों, होटलों और रेस्तराँ आदि में लगा हुआ है। करीब 27 प्रतिशत हिस्सा मैनुफैक्चरिंग क्षेत्र, यानी कारखाना उत्पादन में लगा हुआ है। निर्माण क्षेत्र यानी इमारतें, सड़कें, फ्लाईओवर आदि बनाने का काम करने में भी मजदूरों की भारी संख्या लगी हुई है। अपवादों को छोड़कर ये सभी मजदूर अस्थायी आधार पर नौकरी करते हैं, यानी उनके रोज़गार की कोई सुरक्षा नहीं है और उनकी स्थिति वाकई में उजरती गुलामों जैसी ही है जो पूरी तरह ठेकेदार या जॉबरो के अधीन होते हैं। इनमें से अधिकांश मजदूर बिहार, पूर्वी उत्तर प्रदेश आदि से आने वाले बेहद ग़रीब परिवारों से आते हैं और आम तौर पर कम शिक्षा प्राप्त हैं। इनमें कुशल मजदूर कम ही हैं। अधिकांश मजदूर अकुशल या अर्द्धकुशल हैं और कारखानों, होटलों आदि में हेल्पर आदि के रूप में काम करते हैं। इन सभी का रोज़गार साल भर का नहीं होता है। साल में आम तौर पर सिर्फ़ 6 से 8 महीने तक ही इन्हें रोज़गार प्राप्त होता है। बाकी समय में ये आम तौर पर दिल्ली में छोटे-मोटे काम-धन्धे करते हैं या रिक्शा चलाते हैं। सरकारी आँकड़ों की एक दिक्कत यह है कि यह सेक्टर के अनुसार कार्यशक्ति को गिन ही नहीं सकता है क्योंकि ये असंगठित मजदूर आम तौर पर किसी एक सेक्टर के होते ही नहीं हैं। कभी वे निर्माण मजदूर के रूप में काम करते हैं, कभी किसी होटल में काम करते हैं, कभी कारखाने में काम करते हैं, कभी किसी दुकान पर हेल्पर के रूप में काम करते हैं, कभी कोई रेहड़ी या खोमचा लगा लेते हैं, कभी लेबर चौक पर खड़े होकर अपना श्रम मण्डी में बेचते हैं, तो कभी कुछ और करते हैं। जब जनगणना या सर्वेक्षण होता है तो उस समय ये मजदूर जो कर रहे होते हैं उन्हें उस क्षेत्र के मजदूर के तौर पर गिन लिया जाता है।

खुद दिल्ली सरकार की मानव विकास रपट 2006 में यह स्वीकार किया गया है कि ये मजदूर जिन कारखानों में काम करते हैं उनमें कार्य करने की स्थितियाँ इन्सानों के काम करने लायक नहीं हैं। ठेकेदार और मालिक सारे श्रम कानूनों को अपनी जेब में रखकर घूमते हैं और वेतन देने में भी अनियमितता होती

है। न्यूनतम दिहाड़ी का क़ानून ठेकेदारों और मालिकों के बीच 'चुटकुले' के रूप में काफ़ी प्रचलित है! 40 से 60 रुपये दिहाड़ी पर मज़दूरों से 12 से 14 घण्टे काम लिया जाता है। अब तो ख़ैर सरकार क़ानूनी तौर पर ऐसा इन्तज़ाम कर रही है जिससे कि इतनी ही दिहाड़ी पर इससे भी ज़्यादा काम लेने की सारी बाधाएँ ख़त्म हो जायें। विशेष निर्यात क्षेत्र और सेज़ (विशेष आर्थिक क्षेत्र) में इस तरह का सारा इन्तज़ाम मुनाफ़ाखोरों के लिए कर दिया गया है कि वे मज़दूरों की हड्डी का पाउडर बनाकर अच्छी तरह बेच सकें।

अधिकांश असंगठित मज़दूरों का सीधे मालिक से रिश्ता नहीं होता है। वे ठेकेदार या जॉबर के चंगुल में फँसे होते हैं जो प्रायः उनके गाँव या इलाक़े के भी हुआ करते हैं। वे तमाम भावनाओं और क्षेत्रवाद का उपयोग करके भी मज़दूरों को लूटते हैं। अगर ऐसा न भी हो तो मज़दूर इनके चंगुल में बुरी तरह से फँसे होते हैं। ठेकेदार वर्ग पूरी तरह परजीवी वर्ग होता है। यह मालिक के सिर से यूनियन, मज़दूर संगठन या मज़दूरों की बगावत का सिरदर्द हटा देते हैं। वे मज़दूरों को अपने तरीक़े से प्रबन्धित करते हैं और उन्हें लूटते हैं। उनका काम बिल्कुल अनुत्पादक होता है और एक तरह से देखा जाये तो वे एक ग़ैर-ज़रूरी वर्ग होते हैं। उन्हें बीच से हटा दिया जाये तो मज़दूरों की आय का एक बड़ा हिस्सा फिर से मज़दूरों के पास आने लगेगा। यानी, असंगठित मज़दूर आन्दोलन की एक बड़ी माँग आज ठेका प्रथा की समाप्ति है। दूसरी तरफ़ सरकार ठेका प्रथा को क़ानूनी रूप दे चुकी है। ऐसे में ठेका प्रथा के विरुद्ध संघर्ष मज़दूर आन्दोलन की एक महत्वपूर्ण तात्कालिक माँग है।

असंगठित क्षेत्र में काम करने वाले मज़दूरों की सामाजिक सुरक्षा के लिए अभी तक कोई क़ानून नहीं था। अभी संसदीय वामपन्थियों और मज़दूर वर्ग के ग़द्दारों के दबाव में एक क़ानून लाया गया है जो असंगठित क्षेत्र के मज़दूरों के लिए सामाजिक सुरक्षा की बात करता है। लेकिन हम सभी जानते हैं कि इस क़ानून से मज़दूरों को कोई सुरक्षा नहीं मिलने वाली है। यह असंगठित क्षेत्र के मज़दूरों के गुस्से पर ठण्डे पानी के छिड़काव के लिए उठाया गया एक सेफ़्टी वॉल्व क़दम है। यही काम नक़ली संसदीय मार्क्सवादी करते भी हैं। बुर्जुआ वर्ग की सेवा में मज़दूर वर्ग को भ्रमित किये रखने और उनके गुस्से को इस हद तक न बढ़ने देने का काम, कि वे इस व्यवस्था के लिए ही ख़तरा बन जायें। ख़ैर, इस सामाजिक सुरक्षा क़ानून के बारे में हम क्या कहें जब इसका मसविदा तैयार करने वाले अर्जुन सेनगुप्ता ने खुद ही कह दिया कि इस क़ानून से असंगठित क्षेत्र के मज़दूरों को कोई विशेष लाभ नहीं होने वाला। यह इलाज नहीं है। लुब्बेलुबाब यह कि असंगठित क्षेत्र के मज़दूरों को कोई सामाजिक-आर्थिक

सुरक्षा मुहैया नहीं होती। उन्हें बेहद कम मज़दूरी दी जाती है। इसमें महिलाओं की स्थिति तो और भी ख़राब है। उनसे आम तौर पर सबसे परिश्रम वाले काम लिये जाते हैं, जैसे खुदाई, ईंट और मलबे की ढुवाई, पत्थर तोड़ना, आदि। इसके बावजूद उन्हें पुरुष कामगारों से भी कम मज़दूरी दी जाती है। साथ ही, महिला मज़दूरों को ठेकेदारों द्वारा अक्सर यौन शोषण का भी शिकार होना पड़ता है। कुल मिलाकर महिलाओं की स्थिति पुरुष मज़दूरों से भी अधिक ख़राब होती है, क्योंकि इस सारे काम के बाद घरेलू काम भी मुख्य तौर पर उन्हें ही करना होता है। उनका जीवन तो बस खटने का पर्याय बन जाता है।

## सरकारी आँकड़े मज़दूरों की सही संख्या का अनुमान नहीं लगा सकते

तालिका 12 में असंगठित क्षेत्र के मज़दूरों का उद्योगवार ब्योरा दिया गया है। तालिका से साफ़ देखा जा सकता है कि दिल्ली के असंगठित क्षेत्र में मज़दूरों में होने वाली वृद्धि संगठित क्षेत्र में होने वाली वृद्धि से कहीं ज़्यादा है। अगर

तालिका 12				
असंगठित मज़दूरों का उद्योगवार ब्योरा				
दिल्ली में असंगठित मज़दूरों की अनुमानित संख्या (हज़ार में)				
1993-4				
1999-2000				
उद्योग	कुल	प्रतिशत	कुल	प्रतिशत
कृषि, वानिकी व मछली मारना	83	3	122	3
खनन-उत्खनन	4	0	1	0
मैनुफ़ैक्चरिंग	859	31	947	27
बिजली, गैस व जल आपूर्ति	0	0	0	0
निर्माण क्षेत्र	304	11	245	7
व्यापार, होटल व रेस्तराँ	703	26	1200	34
परिवहन, भण्डारण व संचार	91	3	153	4
वित्त, अचल सम्पत्ति व व्यवसाय	100	4	123	4
सामुदायिक, सामाजिक व निजी सेवाएँ	599	22	719	20
<b>कुल</b>	<b>2744</b>	<b>100</b>	<b>3509</b>	<b>100</b>

स्रोत : मानव विकास संस्थान (2005)

असंगठित और संगठित क्षेत्र के मजदूरों को जोड़ दिया जाये तो कुल मजदूरों की संख्या करीब 57 लाख बैठेगी। यानी, दिल्ली की कुल आबादी का लगभग 45 प्रतिशत। ऐसा तब है जब आँकड़े सारे असंगठित मजदूरों को नहीं जोड़ पाते। दिल्ली में दसियों हज़ार की संख्या में रिक्शेवाले हैं। एक हालिया सर्वेक्षण के अनुसार दस हज़ार से अधिक रिक्शेवाले तो केवल उत्तरी दिल्ली के 6-7 इलाकों में थे। पूरी दिल्ली में अगर रिक्शेवालों का घनत्व इतना ही हो तो यह आबादी 80 हज़ार से 1 लाख के बीच में बैठेगी। इसके अतिरिक्त, घरों में काम करने वाले नौकरों की आबादी भी दिल्ली के असंगठित क्षेत्र के मजदूरों में ही गिनी जायेगी। ये आम तौर पर महिला मजदूर होती हैं, जो अक्सर मजदूरों की पत्नियाँ होती हैं जो अपनी झुग्गियों से पास की कोठियों वाले इलाके में घरेलू कामकाज करने वाली नौकरानियों के रूप में काम करने जाती हैं। इसके अतिरिक्त, ऐसी घरेलू नौकरानियाँ भी होती हैं जो अपने परिवार के लिए रोज़ी-रोटी कमाने वाली एकमात्र सदस्य होती हैं। पूरा वक़्ती या मालिक के घर में रहने वाले नौकरों की संख्या अब दिल्ली में कम हो गयी है। ज़्यादातर घरेलू नौकर ऐसे हैं जो अलग-अलग घरों में काम करते हैं और फिर वापस अपनी झुग्गी

### तालिका 13

#### घरेलू कामगारों का राज्यवार वितरण

राज्य	कामगारों की संख्या व प्रतिशत हिस्सा
असम	3 (0.65 प्रतिशत)
बिहार	55 (11.83 प्रतिशत)
दिल्ली	1 (0.22 प्रतिशत)
गोआ	1 (0.22 प्रतिशत)
हरियाणा	1 (0.22 प्रतिशत)
झारखण्ड	1 (0.22 प्रतिशत)
मध्यप्रदेश	12 (2.58 प्रतिशत)
पंजाब	2 (0.43 प्रतिशत)
राजस्थान	3 (0.65 प्रतिशत)
तमिलनाडु	73 (15.70 प्रतिशत)
उत्तर प्रदेश	143 (30.75 प्रतिशत)
पश्चिम बंगाल	170 (36.56 प्रतिशत)
कुल	465 (100 प्रतिशत)

स्रोत : नीता एन., नमूना सर्वेक्षण 2002

में लौट आते हैं। नीता एन द्वारा घरेलू नौकरानियों पर किये गये अध्ययन से कई तथ्य सामने आये हैं। इस अध्ययन में त्रिलोकपुरी, निजामुद्दीन और यमुना पुश्ता में रहने वाली 465 नौकरानियों के घरों का सर्वेक्षण किया गया। इस अध्ययन में घरेलू कामगारों का जो राज्यवार ब्यौरा मिला वह तालिका 13 में दिया गया है। हालाँकि, यह एक नमूना सर्वेक्षण है लेकिन इससे भी कई बातें साफ़ होती हैं। इसी अध्ययन में बताया गया है कि ऐसे घरेलू कामगारों की ठीक-ठीक संख्या का अनुमान लगा पाना तो मुश्किल है लेकिन एक मोटे अनुमान के अनुसार 2002 में उनकी संख्या 2 लाख थी। इन नौकरानियों के पतियों में 67 प्रतिशत ठेका मजदूर, 17 प्रतिशत खोमचेवाले, 19 प्रतिशत रिक्शेवाले, 9 प्रतिशत कारखाना मजदूर, 5 प्रतिशत मछली बेचने वाले, और 9 प्रतिशत अन्य गतिविधियों में लगे पाये गये। इससे पता चलता है कि मजदूरों की गणना सिर्फ़ उन व्यक्तियों के आधार पर नहीं की जानी चाहिए जो किसी कारखाने में या किसी क्षेत्र में काम में लगे हुए हैं, जिसे सरकारी सर्वेक्षण द्वारा गिना जा सकता हो। बल्कि मजदूरों की आबादी की गणना मजदूर और उसके परिवार में काम करने योग्य हर व्यक्ति की गणना करके ही की जा सकती है। अन्य सभी गणनाएँ मजदूरों की आबादी को कम करके आँकना होगा।

घरेलू कामगारों के अध्ययन में यह भी पता चला कि इन्हें बेहद कम मजदूरी मिलती है और इन्हें अनेक किस्म के उत्पीड़नों का शिकार होना पड़ता है। इस अध्ययन से पता चला कि 40.22 प्रतिशत घरेलू कामगारों को 1000 से 1500, 51.39 प्रतिशत कामगारों को 500 से 1000 और 8.38 प्रतिशत कामगारों को 500 रुपये से कम मजदूरी मिलती है। इनमें से 41.08 प्रतिशत 3 से 5 घण्टे तक और 41.29 प्रतिशत 8 से 10 घण्टे तक काम करते हैं। ज़ाहिर है कि इनकी स्थिति भी असंगठित क्षेत्र के अन्य मजदूरों से भिन्न नहीं है। उल्टे इनके साथ एक नकारात्मक पहलू यह होता है कि अकेले काम करने के कारण ये वर्ग चेतना से काफ़ी हद तक वंचित होते हैं।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है दिल्ली के मजदूरों की आबादी का अनुमान सरकारी आँकड़ों से नहीं लगाया जा सकता है। सरकारी आँकड़ों के मुताबिक ही यह आबादी 2001 में 57 लाख के करीब थी। अब तो यह निश्चित रूप से और बढ़ चुकी होगी। मोटे तौर पर कहा जा सकता है, कि दिल्ली की आधी आबादी मजदूरों की है। यह एक अदृश्य आबादी है। दिल्ली की गाड़ियों की चमक-दमक में यह नज़र नहीं आती। यह चुपचाप अपना काम करती रहती है; यह चुपचाप सड़क के किनारे, फुटपाथों से गुज़र जाती है और नज़र नहीं आती। यह एक अदृश्य आबादी है। कारों में ढमढम करते नवधनाढ्य पशु तो नज़र

आते हैं लेकिन यह आबादी कहीं नज़र नहीं आती। लगता है कि दिल्ली तो ग़ज़ब समृद्ध है! लेकिन दिल्ली के हर धनपशु की समृद्धि इस अदृश्य आबादी के बूते ही है। व्यवस्था ने लगातार उद्योगों को बिखराकर, उनका अनौपचारिकीकरण करके, ठेकाकरण करके असंगठित क्षेत्र में काम करने वाली मज़दूर आबादी को संगठित करने के काम में एक बड़ी बाधा तो पैदा की है, लेकिन यह तात्कालिक बाधा है। अपने शोषण और उत्पीड़न के विरुद्ध इस असंगठित मज़दूर में बेपनाह गुस्सा है। यह कोई गाँव का अपढ़, हथकरघे पर काम करने वाला या अपने औज़ारों से काम करने वाला अकुशल वर्ग चेतना विहीन मज़दूर नहीं है। हाँ, वे असंगठित ठेका मज़दूर हैं। लेकिन वे वर्ग चेतना से वंचित पिछड़े मज़दूर नहीं हैं। ये उन्नत से उन्नत मशीनों और असेम्बली लाइन पर काम करने वाले मज़दूर हैं जो वर्ग चेतना से लैस हैं। वे किसी संगठित मज़दूरों की तरह किसी एक मालिक से नहीं बल्कि पूरे पूँजीपति वर्ग से नफ़रत करते हैं, जो हर किस्म के मालिक के पास काम करने के तज़रबे के कारण हर किस्म के मालिक की असलियत, या कहा जाये कि पूँजीवादी उत्पादन और मज़दूरों की बेतहाशा लूट की असलियत से वाकिफ़ हैं। इनके पास खोने को कुछ भी नहीं है। न इनके पास स्थायी रोज़गार है और न ही एकदम स्थायी आवास, लेकिन वे उन्नत उत्पादन प्रक्रियाओं पर काम करने वाले मज़दूर हैं। ऐसे में उनको संगठित करने में कुछ व्यावहारिक दिक्कतें तो ज़रूर पेश आ रही हैं लेकिन इन दिक्कतों का समाधान खोजना भी आरम्भ कर दिया गया है। न सिर्फ़ कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों ने इन मज़दूरों के बीच नये तरीक़े से काम की शुरुआत कर दी है, बल्कि ये मज़दूर स्वयंस्फूर्त ढंग से बिना किसी नेतृत्व के भी आन्दोलन करने लगे हैं। हालाँकि, बिना क्रान्तिकारी नेतृत्व के होने वाले आन्दोलनों का आम तौर पर कोई भविष्य नहीं होता है लेकिन इससे यह ज़रूर सिद्ध होता है कि ये मज़दूर संगठित किये जा सकते हैं। इन सफल-असफल आन्दोलनों का एक समीक्षा-समाहार ज़रूरी है ताकि असंगठित और अनौपचारिक क्षेत्र के मज़दूरों को संगठित करने की नयी रणनीतियाँ बनायी जा सकें। क्योंकि ये ही मज़दूर सबसे ज़्यादा रैडिकलाइज़्ड हैं और ये ही मज़दूर हैं जिन्हें घूस देकर चुप करने की माली कुव्वत सरकार में नहीं है। इन्हें सरकार किसी भी हालत में रोज़गार सुरक्षा नहीं दे सकती। यह उसके बस की बात नहीं है। सरकार बस यही कर सकती है कि इन मज़दूरों को कहीं पैर न जमाने दे ताकि कहीं इनके संगठन न बन सकें। लेकिन ऐसे क़दमों की भी एक व्यावहारिक सीमा है। दूसरा काम जो सरकार कर रही है वह यह है कि इन मज़दूरों को दिल्ली से बाहर या दिल्ली के परिधिगत इलाकों में भेज रही है। कारण साफ़ है। मेहनतकशों की नफ़रत के बारूद का इतना बड़ा ज़खीरा

राजधानी में रहना पूँजीपति वर्ग की नींद उड़ाये रखता है। बेहतर है कि उसे राजधानी के स्वर्ग से थोड़ा दूर ही रखा जाये। लेकिन दिक्कत यह है कि यह स्वर्ग चलाने और बनाने में इन्हीं मजदूरों की ज़रूरत पड़ती है, इसलिए इन्हें बहुत दूर भी नहीं खदेड़ सकते।

फ़िलहाल उन्हें जो-जो करना था उन्होंने कर लिया है। अब गेंद हमारे पाले में है। हमें सोचना होगा कि इस विशाल असंगठित आबादी को कैसे संगठित किया जाये। इसके लिए हमें असंगठित मजदूरों द्वारा पहले चलाये गये कुछ प्रातिनिधिक सफल-असफल संघर्षों का समीक्षा-समाहार करके नतीजे निकालने होंगे ताकि आगे उन्हें संगठित करने की एक सक्षम योजना और रणनीति बनायी जा सके। अगले अंक में, इस श्रृंखला की अन्तिम कड़ी में हम ऐसे कुछ संघर्षों की चर्चा करते हुए ठोस नतीजे निकालने का प्रयास करेंगे।



अभी तक हमने साफ़ तौर पर देखा कि बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश, से आने वाले मजदूर दिल्ली में सबसे ज़्यादा हैं। पिछले तीस वर्षों में दिल्ली की औद्योगिक कार्यशक्ति में भारी वृद्धि हुई जो सरकार और प्रशासन के सारे अनुमानों को पार कर गयी। 1970 का दशक ही उद्योगों के अनौपचारिकीकरण का दशक भी था। यही वह दशक था जब संगठित टेक्सटाइल उद्योग का पतन शुरू हो रहा था और दिल्ली देखते-देखते लघु व असंगठित उद्योगों के सबसे बड़े केन्द्र के रूप में उभर रहा था। आने वाले दो दशकों के भीतर संगठित क्षेत्र में काम करने वाले मजदूरों की संख्या असंगठित क्षेत्र में काम करने वाले मजदूरों से कहीं पीछे छूट गयी। आज स्थिति यह है कि दिल्ली की जनसंख्या में कुल असंगठित मेहनतकश आबादी का हिस्सा करीब 45 प्रतिशत हो चुका है। कुल मजदूरों की संख्या जोड़ दी जाये तो मेहनतकश आबादी ही दिल्ली की कुल आबादी के आधे से अधिक हो चुकी है। यही वह आबादी है जिसके बाजुओं के बूते दिल्ली एक चमकते-दमकते वैश्विक शहर के रूप में विकसित हो रही है। लेकिन हम लेख के शुरुआती हिस्सों में देख चुके हैं कि यही वह आबादी है जो दिल्ली में सबसे बुरी हालत में जीती है। चाहे वह काम करने की स्थितियों का प्रश्न हो या फिर रिहायश का प्रश्न। हर तरह से यह आबादी रसातल में जीने वाली आबादी है और उसके जीवन का अर्थ सिर्फ़ इतना है कि रोज़ी कमाने के लिए कोल्हू के बैल की तरह खटो, और फिर जीने की खुराक भर लेकर घर आकर सो जाओ, और अगले दिन फिर रोज़ी के लिए कोल्हू के बैल की तरह खटो! बस! यही जीवन है! यह आबादी ही वह आबादी है जो दिल्ली की

झुग्गी-झोपड़ी बस्तियों से लेकर लेबर कालोनियों और झुग्गियों में रहती है। यही वह आबादी है जिसको लेकर दिल्ली का खाया-पिया-अघाया-मोटाया व्यापारी और मध्यवर्ग काफी शोर मचाता है कि इनके कारण दिल्ली की खूबसूरती में खलल पड़ रहा है; इनके कारण दिल्ली गन्दी हो गयी है; इनके कारण दिल्ली वैश्विक शहर नहीं बन पा रही है। लेकिन सच तो यह है कि दिल्ली में इस अल्पसंख्यक सुविधाभोगी तबके के जीवन की एक-एक पूर्वशर्त यही आबादी पूरी करती है, यही वह आबादी है जिसके कारण दिल्ली चलती है। इसे उन जगहों पर बसाया जाता है जहाँ चमक-दमक और ऐश्वर्य का साम्राज्य कायम करना होता है और फिर यह साम्राज्य खड़ा होते ही उसे वहाँ से खदेड़कर दिल्ली के किसी सुदूर कोने में भेज दिया जाता है। यह आबादी दिल्ली के मध्यवर्ग से आकार में कहीं ज़्यादा बड़ी है और दिल्ली के विकास की बुनियाद भी यही आबादी है, न कि खाता-पीता मध्यवर्ग।

यह पूरी आबादी दिल्ली के संगठित मज़दूरों की आबादी से भी कहीं ज़्यादा है। जब दिल्ली में बड़ी टेक्सटाइल मिलें थीं तब भी उसके मज़दूरों की कुल संख्या इतनी नहीं थी जितनी आज असंगठित क्षेत्र के मज़दूरों की है। और अब तो ऐसी बड़ी मिलें भी दिल्ली में नहीं रहीं। उन बड़ी मिलों के मज़दूरों का आन्दोलन एक मज़बूत आन्दोलन रहा था। उनकी ट्रेड यूनियनें शक्तिशाली थीं। लेकिन इन मिलों के एक-एक करके बन्द होने के बाद दिल्ली के संगठित मज़दूरों का मज़बूत ट्रेड यूनियन आन्दोलन भी क्षरित हो गया। संगठित मज़दूर आबादी के लिए किसी ट्रेड यूनियन के तहत संगठित हो पाना आसान होता है क्योंकि ऐसे मज़दूर बड़ी संख्या में एक छत के नीचे काम करते हैं। मिसाल के तौर पर, बिड़ला कॉटन मिल और डीसीएम मिल में 4 से साढ़े 4 हज़ार मज़दूर काम करते थे। ऐसे में मज़दूर संगठनों का निर्माण एक अपेक्षतया आसान कार्य होता है। लेकिन जैसे-जैसे दिल्ली छोटे कारख़ानों के एक मुख्य केन्द्र के रूप में विकसित हुई और जैसे-जैसे बड़ी मिलें बन्द हुईं, संगठित मज़दूर आन्दोलन भी समाप्त होता गया। और आज संगठित मज़दूर आन्दोलन के नाम पर दिल्ली में रेलवे की क़ुछेक यूनियनें हैं। असंगठित मज़दूरों को संगठित करने की चुनौतियों को स्वीकारने के लिए कोई भी चुनावबाज़ ट्रेड यूनियन अर्थपूर्ण रूप में सामने नहीं आ रही है।

लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि दिल्ली में कभी कोई असंगठित मज़दूरों का संघर्ष नहीं हुआ। बल्कि दिल्ली असंगठित और छोटे कारख़ानों में काम करने वाले ऐसे आन्दोलन का गवाह बनी जैसा आन्दोलन देश ने उस समय तक कहीं भी नहीं देखा था। एक ऐसा आन्दोलन जिसमें मज़दूर पेशों, कारख़ानों और क्षेत्र



की दीवार को गिराकर एक साथ संगठित हुए और सात दिन तक चले संघर्ष में सरकार को झुका दिया। उससे एक वर्ष पहले ही दिल्ली ने असंगठित मजदूरों की 72 घण्टे की हड़ताल भी देखी थी जिसमें मजदूरों को आंशिक सफलता प्राप्त हुई थी। इन हड़तालों के बारे में चर्चा कम मिलती है लेकिन यह बेहद महत्वपूर्ण हड़तालें थीं। पहली बार ऐसा हुआ था कि लगभग पूरी दिल्ली के असंगठित क्षेत्र के मजदूर एक मंच पर आये थे। कहने के लिए इस हड़ताल में एक ऐसी यूनियन शामिल थी जो संगठित मजदूरों की यूनियन थी—यानी, सीटू। लेकिन ऐसा कतई नहीं था कि यह हड़ताल सीटू ने चलायी। इस हड़ताल में शामिल मजदूरों की संख्या सभी संगठित मजदूरों की ट्रेड यूनियनों के सदस्यों की कुल संख्या से कई गुना ज़्यादा थी। यही चीज़ इस हड़ताल को अन्य हड़तालों से अलग करती है। गौरतलब है कि अधिकांश स्थापित ट्रेड यूनियनों ने या तो इस हड़ताल का विरोध किया था या फिर इससे किनारा कर लिया था। असंगठित मजदूरों को संगठित करने का जोखिम कोई नहीं उठाना चाह रहा था। जो शामिल हो रहे थे वे मजबूरी में शामिल हो रहे थे। क्योंकि इतनी व्यापक हड़ताल से कन्नी काटना उन्हें पच नहीं रहा था।

यह सात दिवसीय हड़ताल 1988 में हुई थी। यह इस मायने में भी काफ़ी महत्वपूर्ण थी कि इसमें मजदूरों को उल्लेखनीय विजय प्राप्त हुई थी। अपनी केन्द्रीय माँगों पर मजदूरों ने सरकार और प्रशासन को झुका दिया था। सरकार ने पहली बार न्यूनतम मजदूरी में इतनी वृद्धि की जो पहले कभी नहीं हुई थी। यही कारण है कि **क़ानूनी तौर पर** आज भी दिल्ली में मजदूरों को मिलने वाली न्यूनतम मजदूरी देश में सर्वाधिक है। मजदूरों को कई और रियायतें भी देने के लिए प्रशासन मजबूर हुआ। यह लघु उद्योग में काम करने वाले मजदूरों की दिल्ली ही नहीं, बल्कि देश भर में सबसे बड़ी हड़ताल थी। इसके बाद देश के कई हिस्सों में असंगठित क्षेत्र के मजदूरों ने हड़तालें कीं। दिल्ली में हड़ताल के कुछ दिन पूरे होने के बाद ही दिल्ली के मध्यवर्ग के तमाम हिस्सों से भी हड़ताल को समर्थन मिलने लगा था जिसमें संगठित मजदूर, शिक्षक, छात्र, संस्कृतिकर्मी आदि शामिल थे। इस व्यापक समर्थन की दृष्टि से भी यह हड़ताल महत्वपूर्ण थी।

आगे हम तीन बातों का अध्ययन करेंगे। पहली चीज़, दिल्ली के असंगठित मजदूरों के आन्दोलनों के पहले के ट्रेड यूनियन आन्दोलन का विकास और पतन। दूसरी चीज़, 1987 की तीन दिवसीय हड़ताल। और तीसरी और मुख्य चीज़, 1988 की सात दिवसीय हड़ताल। एक औद्योगिक केन्द्र और छोटे कारख़ानों के

केन्द्र के रूप में दिल्ली के विकास की कहानी आप पिछले हिस्से में पढ़ चुके हैं। साथ ही आप दिल्ली की मजदूर आबादी के चरित्र और प्रकृति में बदलाव और इसके आकार में भारी वृद्धि के बारे में भी पहले ही पढ़ चुके हैं। इन कारकों को जान-समझकर ही असंगठित क्षेत्र के मजदूरों के आन्दोलन के विकास और चुनौतियों को समझा जा सकता है।

## आन्दोलन की भौतिक पृष्ठभूमि

इससे पहले कि हम इन असंगठित मजदूरों के संगठित होने के प्रयासों की बात करें, एक नजर उन हालात पर डाल लेना भी अच्छा होगा जिन हालात से तंग आकर इन मजदूरों ने बग़ावत का झण्डा बुलन्द किया था। 1980 के दशक में दिल्ली के मजदूरों की संख्या में भारी बढ़ोत्तरी हुई। बताने की आवश्यकता नहीं है कि यह सभी मजदूर अनौपचारिक क्षेत्र में ही आये थे क्योंकि बड़ी मिलें या तो बन्द हो चुकी थीं या फिर छँटनी कर-करके बन्द होने की तरफ़ बढ़ रही थीं। नये औद्योगिक इलाक़े जैसे वज़ीरपुर, जी. टी. करनाल रोड, मायापुरी, नरायणा और ओखला स्थापित हो चुके थे जिनमें बड़े पैमाने पर छोटे उद्योग थे। इनमें एक भारी मजदूर आबादी काम कर रही थी जो किसी भी श्रम क़ानून के नियमन के तहत नहीं आती थी। इनमें से सैकड़ों फ़ैक्टरियाँ तो ऐसी थीं जो ग़ैर-क़ानूनी थीं और बिना पंजीकरण के चल रही थीं। आप आराम से अन्दाज़ा लगा सकते हैं कि ऐसे में मजदूरों के काम करने के हालात और मजदूरी की स्थिति क्या होगी। साथ ही, आप यह अन्दाज़ा भी आराम से लगा सकते हैं कि उनकी रिहायश की जगहें कैसी होंगी। साथ ही, 1982 से लेकर 1988 के बीच महँगाई में भारी बढ़ोत्तरी हुई। जहाँ महँगाई में दो से ढाई गुना की वृद्धि हुई वहीं मजदूरी में सौ प्रतिशत की वृद्धि भी नहीं हुई। दिल्ली के उपभोक्ता क़ीमत सूचकांक में मार्च, 1982 से मार्च, 1988 के बीच 334 अंकों की वृद्धि हुई (आधार 1960 – 100)। दूसरी ओर, अकुशल मजदूर के लिए इसी समयावधि के दौरान चार मजदूरी बढ़ोत्तरियों के ज़रिये मजदूरी को 300 रुपये से 562 रुपये कर दिया गया। दूसरी तरफ़, छोटे उद्योगों के मालिकों की सम्पत्ति में भारी वृद्धि हो रही थी। पहले और दूसरे अखिल भारतीय लघु उद्योग संसेक्स के अनुसार दिल्ली में लघु उद्योगों का कुल संवर्धित मूल्य 1972 के 36.34 करोड़ रुपये से बढ़कर 1987-88 में 396.17 करोड़ रुपये हो गया। यानी प्रति मजदूर कुल संवर्धित मूल्य 5,601 रुपये से बढ़कर 32,480 रुपये हो गया। यानी प्रति मजदूर पूँजीपति 1987-88 में ही साढ़े बत्तीस हज़ार रुपया कमा रहा था। आज तो यह

रकम लाख-डेढ़ लाख से कम नहीं होगी। 1987-88 में दी जाने वाली कुल मजदूरी थी 114.4 करोड़ रुपये यानी कुल ठोस लाभ था 281.76 करोड़ रुपये। यानी, प्रति मजदूर पूँजीपति का लाभ था 23,000 रुपये। दिल्ली की झुग्गियों में रहने वाली आबादी में 1951 से 1991 के बीच लगभग 500 प्रतिशत की वृद्धि हो चुकी थी (30,066 से 1,60,635)। (स्लम एण्ड जेजे डिपार्टमेण्ट, दिल्ली झुग्गी सुधार बोर्ड, दिल्ली नगर निगम)।

साफ़ है कि दिल्ली के नवधनपतियों और दिल्ली को बनाने वाले हाथों के बीच की खाई लगातार बढ़ रही थी। जहाँ धनपति समृद्धि के नये शिखरों की ओर बढ़ रहे थे, वहीं दिल्ली का मजदूर दरिद्रता के नये रसातल की ओर बढ़ रहा था। महंगाई की सबसे भयंकर मार असंगठित मजदूरों को ही झेलनी पड़ती है जो झुग्गी बस्तियों और जे.जे. कालोनियों में रहते हैं। यह वह भौतिक और सामाजिक पृष्ठभूमि थी जिसमें 1987-88 में पहली बार असंगठित मजदूरों के आन्दोलन हुए।

असंगठित मजदूरों के बीच लड़ने का जुझारूपन जगाने और एक आत्मविश्वास पैदा करने का काम 1950 से 1970 के दशक के दौरान दिल्ली के संगठित ट्रेड यूनियन आन्दोलन ने भी किया था। इसलिए 1988 तक आने से पहले ट्रेड यूनियन आन्दोलन के दिल्ली में विकास के बारे में जानना भी आवश्यक है।

## ट्रेड यूनियन आन्दोलन की पृष्ठभूमि

1950 के दशक से ही दिल्ली कपड़ा मजदूरों के एक केन्द्र के रूप में विकसित हो चुका था। दिल्ली में 5 टेक्सटाइल मिलें थीं जिनमें कुल 22,000 मजदूर काम करते थे। इन मजदूरों के बीच जल्दी ही ट्रेड यूनियन आन्दोलन ने अपनी जड़ें जमा लीं। इसमें मुख्य थी भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (अविभाजित) की ट्रेड यूनियन एटक (आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस)। इस ट्रेड यूनियन के नेतृत्व में दिल्ली के कपड़ा मजदूरों ने कई जुझारू आन्दोलन चलाये। एटक से जुड़ी ट्रेड यूनियन कपड़ा मजदूर एकता यूनियन ने 1954 में एक विशाल हड़ताल की जिसमें हजारों की संख्या में मजदूर शामिल हुए। इसमें कपड़ा मजदूरों के अलावा कई अन्य मजदूर भी शामिल हो गये थे। इसके बाद नेहरू की सरकार के काल में ही मजदूरों का ज़बर्दस्त दमन हुआ और 1962 में कई कपड़ा मजदूरों को दो से चार साल के लिए क़ैद की सज़ा भी मिली। इसके बाद 1964-65 में डीसीएम मिल के मजदूरों ने एक और शानदार हड़ताल की जिसमें 12 दिनों तक

कारखाने पर कब्जा कर लिया गया और कारखाने के अन्दर ही सामूहिक रसोई चली और मजदूरों ने उत्पादन किया। पुलिस की दखल देने की हिम्मत नहीं हुई और अन्त में प्रबन्धन को मजदूरों का बोनस डबल करना पड़ा जो कि मजदूरों की मुख्य माँग थी।

लेकिन मजदूरों के इस लड़ाकूपन से एटक और सीपीआई का संशोधनवादी नेतृत्व स्वयं ही काँप गया और फिर इस जुझारूपन को कम और भोथरा करने के प्रयास शुरू कर दिये गये। इसकी प्रतिक्रिया में अधिकांश मजदूर नवनिर्मित माकपा के साथ जाने लगे। 1970 में बनी सीटू (सेण्ट्रल इण्डियन ट्रेड यूनियन) जो माकपा से जुड़ी थी, अब संगठित मजदूरों का मुख्य संगठन बन गयी। लेकिन इस पूरे आन्दोलन को आगे जाकर ठहरना ही था। एक तो सीटू का संशोधनवादी नेतृत्व इस पूरे आन्दोलन को ज़्यादा से ज़्यादा जुझारू आर्थिक संघर्ष तक ही ले जा सकता था। दूसरी बात यह कि, ये मजदूर दिल्ली सरकार के कर्मचारियों से थोड़ा ही कम वेतन पाते थे। और तीसरी बात यह कि संगठित उद्योग ही दिल्ली से उजड़ने लगे और संगठित मजदूरों के आन्दोलन का 70 के दशक के समाप्त होते-होते पतन हो गया। इनकी एकता एक समय तक दिल्ली के असंगठित क्षेत्र के मजदूरों के साथ बनी रही। 1973 में एक 26 दिन की हड़ताल हुई जिसमें संगठित मजदूरों ने नये विकसित होते असंगठित छोटे कारखानों के मजदूरों को गोलबन्द किया और 30 अप्रैल को दिल्ली बन्द किया। यह आन्दोलन क़ीमतों में बढ़ोत्तरी और बेरोज़गारी को लेकर किया गया था। इसमें आंशिक विजय भी हासिल हुई। इसके बाद आपातकाल का दौर आया जिसमें मजदूरों का ज़बर्दस्त दमन किया गया। इसके अतिरिक्त ट्रेड यूनियन आन्दोलन का नेतृत्व मजदूर आन्दोलन के लड़ाकूपन को बचाये नहीं रख सकता था क्योंकि वह आर्थिक माँगों से आगे जाने की बात नहीं करता था। कुल मिलाकर एक लड़ाकू अर्थवाद ही सीटू का नेतृत्व मजदूरों को दे सकता था। ऐसे में दमन ने और कुछ आर्थिक संघर्षों की विजय ने मजदूरों के जुझारूपन को खत्म किया। 1980 के दशक में एक-एक करके बड़ी मिलें बन्द होनी शुरू हो गयीं। डीसीएम के मजदूरों ने छँटनी और तालाबन्दी रोकने के लिए 114 दिनों की हड़ताल की लेकिन यह हड़ताल भी बन्दी की प्रक्रिया को कुछ समय तक ही रोके रख सकी। इस पूरी प्रक्रिया में कांग्रेस का कपड़ा मजदूर आन्दोलन के नेतृत्व में घुसना भी शामिल था और इसने भी आन्दोलन के पतन में काफ़ी योगदान किया। कांग्रेस का नेता ललित माकन इस प्रक्रिया में प्रमुख भूमिका में था। कोई संशोधनवादी नेतृत्व आन्दोलन की बागडोर पूँजीपतियों के चाकर के हाथ में जाने से रोक भी नहीं सकता था। 1986-87 आते-आते आन्दोलनों का केन्द्र लघु उद्योगों की ओर

खिसक चुका था जिसमें संगठित क्षेत्र से कहीं ज़्यादा मज़दूर काम करते थे। अब बोनस या भत्ते की जगह न्यूनतम मज़दूरी वह मुख्य माँग बन गयी थी जिसके इर्द-गिर्द मज़दूर आन्दोलन को संगठित करने का काम करना था।

यह था दिल्ली के संगठित मज़दूरों के ट्रेड यूनियन आन्दोलन का एक संक्षिप्त इतिहास। इसमें सबसे महत्वपूर्ण 1973 की 26 दिवसीय हड़ताल थी जिसमें संगठित क्षेत्र के मज़दूरों ने पहली बार बड़े पैमाने पर असंगठित क्षेत्र के मज़दूरों को भी अपने साथ लिया और ऐसे सामान्य मुद्दे उठाये जिससे दिल्ली के अधिकांश मेहनतकशों का सरोकार था। यहाँ बोनस और भत्ते की आर्थिक माँगें ही नहीं थीं, बल्कि महँगाई और बेरोज़गारी जैसी सामान्य माँगें भी थीं जो मज़दूर वर्ग की राजनीतिक चेतना के क्षितिज को व्यापक करती थीं।

## तीन दिवसीय हड़ताल

गैर-कांग्रेस ट्रेड यूनियनों ने एक मंच पर आकर 1979 से ही असंगठित क्षेत्र के मज़दूरों को गोलबन्द करने के कुछ प्रयास शुरू कर दिये थे। कांग्रेस आपातकाल के बाद से ही, चुनावों में पराजय के बावजूद, एक गुण्डा राज चला रही थी। इसके विरुद्ध एक गैर-कांग्रेस ट्रेड यूनियनों का सम्मेलन हुआ जिसमें सीटू, एटक, एचएमएस और बीएमएस आदि शामिल हुए। इस सम्मेलन के बाद कई वर्षों तक ये ट्रेड यूनियनों संगठित क्षेत्र में काम करने की आदतों से छुटकारा पाने में लगी रहीं! 1987 में जाकर पहली बड़ी हड़ताल हुई। यह हड़ताल सीटू के आह्वान पर हुई। इस हड़ताल का विचार सीटू की स्थानीय कमेटी के दिमाग़ में आया था। लेकिन अधिकांश सीटू नेता इसे अव्यावहारिक मानकर चल रहे थे। लेकिन असंगठित क्षेत्र में न्यूनतम मज़दूरी को 1050 रुपये करने की माँग ऐसी थी जिस पर मज़दूरों का व्यापक समर्थन हड़ताल को मिला। ऐसे समर्थन की उम्मीद स्वयं सीटू के नेताओं को भी नहीं थी। नजफ़गढ़ रोड क्षेत्र से लेकर वज़ीरपुर तक मज़दूर हज़ारों की संख्या में सड़कों पर उतर आये। अधिकांश मामलों में सिर्फ़ आह्वान सीटू का था, बाकी गोलबन्दी और संगठित होने की कार्रवाई मज़दूरों ने स्वतःस्फूर्त ढंग से की। बाद में, अविश्वस्त सीटू नेतृत्व ने आन्दोलन को सँभालने के लिए प्रवेश किया। मिसाल के तौर पर, नांगलोई से हड़ताल के दूसरे दिन सीटू के दफ़्तर में फ़ोन आया कि जुलूस बहुत ज़्यादा बढ़ा है और सीटू कार्यकर्ता इसके लिए ज़िम्मेदार नहीं हैं, कोई अप्रिय घटना भी घट सकती है!

बुनियादी स्तर पर मज़दूरों ने हड़ताल की अच्छी तैयारियाँ की थीं और

दसियों हज़ार की संख्या में पोस्टर लगाये गये थे और पर्चों का वितरण किया गया था। नुक्कड़ सभाएँ और कारखाना गेटों की सभाओं की झुड़ी लगा दी गयी थी। छात्रों के और महिलाओं के संगठन भी बाद में हड़ताल के समर्थन में सड़कों पर उतर आये। माँगों में ठेका प्रथा की समाप्ति, महिला मजदूरों के लिए क्रेच और पुलिस हस्तक्षेप को रोकने की माँगें भी शामिल थी।

कुल मिलाकर, यह हड़ताल सफल रही थी और इसने असंगठित क्षेत्र के मजदूरों को ज़बर्दस्त आत्मविश्वास से भर दिया था। कई जगह पुलिस ने कुछ नेताओं को गिरफ़्तार किया लेकिन मजदूरों के भारी दबाव से डरकर उन्हें छोड़ दिया। एक तरह से यह 22 से 28 नवम्बर तक चली सात-दिवसीय हड़ताल की भूमिका तैयार करने वाली हड़ताल थी।

## 1988 की सात दिवसीय हड़ताल

सात दिवसीय हड़ताल का विचार कैसे पैदा हुआ यह कहानी भी सीटू नेतृत्व के बारे में और इस आन्दोलन के स्वतःस्फूर्त होने के बारे में काफी कुछ बताता है। तीन दिवसीय हड़ताल के बाद सीटू की तरफ़ से एक पर्चा बाँटा गया जिसका नाम था 'जीना है तो लड़ना होगा!' इसमें 4 फ़रवरी 1988 को एक सभा में एकत्र होने का आह्वान किया गया था। यह सभा बेहद विशाल थी। इसमें मजदूरों का नेतृत्व पर भारी दबाव था कि ज़्यादा जुझारू और लड़ाकू कार्रवाई की जाये। इस दबाव में आकर सीटू के स्थानीय नेतृत्व ने चलते-चलाते वायदा कर दिया कि अगर माँगें मानीं नहीं जातीं तो तीन दिवसीय हड़ताल के बाद का अगला क़दम होगा सात-दिवसीय हड़ताल। इस विचार पर पहले कोई योजना नहीं ली गयी थी। यह बात स्थानीय नेतृत्व ने जनदबाव में आकर कही थी। सीटू के सचिवालय की बैठक के कार्यवृत्त से पता चलता है कि इस स्वतःस्फूर्त व तत्काल निर्णय के लिए स्थानीय नेतृत्व की आलोचना की गयी। हालाँकि, बाद में मजदूरों के व्यापक समर्थन की लहर में ये आपत्तियाँ और आलोचनाएँ बह गयीं। दरअसल, आन्दोलन को इस दिशा में ले जाने का नेतृत्व का शायद कोई इरादा नहीं था।

यह सात दिवसीय हड़ताल 22 नवम्बर को शुरू हुई। यह छोटे उद्योगों के मजदूरों की शायद पहली कार्रवाई थी जिसे मीडिया ने कवर किया था। इसका एक कारण यह था कि हाल ही में इन मजदूरों ने तीन-दिवसीय हड़ताल में अपनी ताक़त का प्रदर्शन कर दिया था। उस समय से ही इन मजदूरों को मिलने वाली दयनीय मजदूरी का भारी प्रचार हुआ था और आम मध्यवर्ग का एक भारी

तबका भी मजदूरी बढ़ाने की माँग के साथ खड़ा था। इसके अतिरिक्त, जनता के अन्य हिस्सों में भी एक राज्य-विरोधी भावना काम कर रही थी। दमन और उत्पीड़न में राजीव गाँधी की सरकार किसी भी तरह उनकी माँ इन्दिरा गाँधी से पीछे नहीं थी, जिनकी 1984 में हत्या के बाद राजीव गाँधी भारी बहुमत के साथ सत्ता में आये थे और जिसके बाद देश में 1984 के सिख विरोधी दंगे कांग्रेस के संरक्षण में हुए थे। कर्मचारियों से लेकर संगठित क्षेत्र के मजदूरों तक के आन्दोलनों पर दमन का डण्डा कांग्रेस सरकार बेलाग-लपेट चला रही थी। यही कारण था कि सात दिवसीय हड़ताल को जनता के अलग-अलग हिस्सों से व्यापक समर्थन मिल रहा था। कई पत्रकार, बुद्धिजीवी, रिटायर्ड जज, वकील, संस्कृतिकर्मी आदि खुलकर इस हड़ताल के पक्ष में बयान दे रहे थे। सरकार और प्रशासन पर भारी दबाव बनाया गया था। इसमें सीटू के अतिरिक्त कई अन्य मजदूर संगठन शामिल हो चुके थे।

हड़ताल 22 नवम्बर को शुरू हुई। हर दिन के साथ हड़ताल नये-नये इलाकों में फैलती गयी। हालाँकि पूरे शहर में भारी संख्या में पुलिस बल तैनात किये गये थे और साथ ही कई स्थानों पर मजदूरों पर लाठियाँ भी बरसायी गयीं। लेकिन इन सबका उल्टा असर हुआ। हर दिन के साथ हड़ताल और प्रचण्ड होती गयी। जिन इलाकों में हड़ताल सबसे बड़े पैमाने पर फैली वे थे वज़ीरपुर, जी. टी. करनाल रोड और मायापुरी-नरायणा और दक्षिण दिल्ली में ओखला। यह हड़ताल असंगठित क्षेत्र के मजदूरों की थी। इसमें पुराने तरीके नहीं अपनाये जा सकते थे। हड़ताल के ग्रास-रूट नेताओं ने बेहद रचनात्मक तरीके से योजना बनायी और हड़ताल को सफल बनाया। दिल्ली में अधिकांश छोटे कारखाने औद्योगिक इलाकों में स्थित हैं, जैसे वज़ीरपुर औद्योगिक क्षेत्र, मायापुरी औद्योगिक क्षेत्र, ओखला औद्योगिक क्षेत्र आदि। बड़ी फ़ैक्टरियों में पूरा समूह पहले से ही एक स्थान पर एकत्र होता है और हड़ताल को संगठित करना आसान होता है। छोटी फ़ैक्टरियों में इस प्रक्रिया को कारखाना-आधार पर चलाने के बजाय इलाकाई आधार पर चलाना होता है। लिहाज़ा मजदूर नेताओं ने पहले उन इलाकों में रिक्शों पर लाउडस्पीकर रखकर मुद्दों का और हड़ताल के समय और तिथि का पूरा प्रचार किया। इसमें वे मजदूरों के जीवन की समस्याओं को खोलकर रखते और बताते कि यह हड़ताल पूरी दिल्ली के छोटे कारखाने के मजदूर मिलकर आयोजित कर रहे हैं। इसके बाद उन औद्योगिक इलाकों के प्रमुख प्रवेश द्वारों पर पिकेटिंग की जाती, जिसमें मजदूरों को रोककर उनसे बात की जाती और उनसे हड़ताल में शामिल होने को कहा जाता। जब वहाँ पर जमा भीड़ की संख्या कई सौ में पहुँच जाती तो पिकेटिंग की यह प्रक्रिया एक जुलूस में तब्दील

कर दी जाती। फिर यह जुलूस वहाँ से औद्योगिक इलाकों में प्रवेश करता और फिर एक-एक कारखाने में जाकर वहाँ के मजदूरों से हड़ताल में शामिल होने का आह्वान करता। यह जुलूस इतना बड़ा होता था कि किसी भी एक छोटे कारखाने का मालिक, प्रबन्धन या ठेकेदार उससे टकराने की हिम्मत नहीं करते थे। इसमें सम्पत्ति के नुकसान का भय होता था। नतीजा यह होता कि हड़ताल में मजदूर शामिल होते जाते और जुलूस का आकार बढ़ता जाता। कई बार तो जुलूस में शामिल मजदूरों की संख्या 5 हजार से 8 हजार के बीच भी पहुँच जाती थी।

सात दिवसीय हड़ताल के दौरान इसी तरीके से मजदूरों को लामबन्द किया गया। वजीरपुर, ओखला, मायापुरी, जी.टी. करनाल रोड, आदि औद्योगिक क्षेत्रों में भारी पैमाने पर मजदूर हड़ताल में शामिल हुए। पुलिस ने कई जगह शुरुआत में हड़ताल को कुचलने की कोशिश की लेकिन अफल रही। बाद के दौर में यह प्रयास करने भी बन्द कर दिये गये। सात दिनों तक दिल्ली ठप्प पड़ गयी थी। इसका एक कारण यह भी था कि इस हड़ताल को बड़े पैमाने पर बुद्धिजीवियों और मध्यवर्ग से समर्थन मिल रहा था। जज, वकील, पत्रकार, साहित्यकार, संस्कृतिकर्मी, आदि से लेकर संगठित क्षेत्र के मजदूरों तक का समर्थन भारी पैमाने पर मजदूरों को मिल रहा था। नाटक टोलियाँ और छात्रों-नौजवानों के सांस्कृतिक जत्थे मजदूरों के बीच प्रचार और नाटक के लिए जा रहे थे और उनका हौसला बढ़ा रहे थे। यही कारण था कि असंगठित क्षेत्र का मजदूर बड़े पैमाने पर इस हड़ताल में शामिल हुआ। आम तौर पर, छोटे कारखानों के मजदूर के सामने यह स्थिति होती है कि वह अगर काम छोड़ भी दे तो उसकी जगह काम करने के लिए तैयार मजदूर मालिक को आसानी से मिल जाता है। इसके अतिरिक्त, उसे मालिकों और प्रबन्धन का भय होता है कि वह कहीं उसे किसी जुलूस या प्रदर्शन में न देख लें, उसे निकाल न दें। इन सारे डरों से ऊपर उठकर अगर मजदूरों ने इस हड़ताल में शिरकत की तो इसकी वजह यह थी कि उन्हें विश्वास हुआ कि प्रबन्धन, मालिक और पुलिस से बड़ी भी कोई ताकत होती है—वर्ग एकता। इस पर यकीन पैदा करना इतना आसान नहीं होता। लेकिन इलाकाई आधार पर संगठन बनाने के लम्बे संघर्ष के दौरान और छोटे-छोटे संघर्षों से आगे बढ़ते हुए यह वर्ग चेतना पैदा की जा सकती है। यही कारण था कि सात दिवसीय हड़ताल इस कदर सफल रही।

सरकार को अधिकांश माँगों पर झुकना पड़ा। मार्च 1989 में अन्ततः न्यूनतम मजदूरी को 1050 रुपये तो नहीं लेकिन 750 रुपये कर दिया गया जो 33 प्रतिशत की अभूतपूर्व बढ़ोत्तरी थी। सरकार कुछ अन्य परिधिगत माँगों पर भी



झुकी। यह दिल्ली में वह आखिरी बड़ा आन्दोलन था जिसमें एक प्रमुख ट्रेड यूनियन तमाम अन्तरविरोधों के साथ असंगठित मजदूरों के आन्दोलन में साथ खड़ी हुई थी। सीटू के बुनियादी धरातल के संगठनकर्ताओं ने कई जगह बेहद कौशल के साथ हड़ताल को संगठित किया था। लेकिन इस पूरी हड़ताल के बावजूद मजदूर वर्ग की चेतना में जिस बढ़ोत्तरी की उम्मीद की जानी चाहिए, वैसी कोई बढ़ोत्तरी हमें देखने को नहीं मिलती है। इसकी एक प्रमुख वजह यह थी कि इस पूरे आन्दोलन के दौरान कोई क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी जिस प्रकार का राजनीतिक प्रचार और उद्वेलन कर सकती थी, वैसी कोई भी कार्रवाई माकपा द्वारा नहीं की गयी। इस आन्दोलन में जो शानदार था, जो क्रान्तिकारी था, वह थी मजदूरों की स्वतःस्फूर्तता और लड़ाकूपन और जुझारूपन। ये मजदूर थे जिन्होंने नेतृत्व को नेतृत्व दिया और मजबूर कर दिया कि वे एक ऐसे संघर्ष का बिगुल फूँके जो दिल्ली के मजदूर आन्दोलन के इतिहास में हमेशा के लिए दर्ज हो जाये। इस आन्दोलन में जो अफसोसनाक था वह था ऊपरी नेतृत्व जिसने इस पूरे अवसर का इस्तेमाल मजदूरों के बीच वर्ग चेतना के स्तरोन्नयन के लिए और मजदूर वर्ग को उसके विश्व ऐतिहासिक मिशन के प्रति सजग करने के लिए नहीं किया। यानी, नेतृत्व किसी भी राजनीतिक प्रचार के काम को संजीदगी से करने से कतरा गया। लेकिन हम क्यों शिकायत करें? एक संशोधनवादी नेतृत्व से और उम्मीद भी क्या की जा सकती है? लेकिन ग्रास रूट स्तर पर ट्रेड यूनियन कार्यकर्ताओं ने शानदार कौशल और राजनीतिक प्रत्युत्पन्नमति का परिचय दिया जिसकी तारीफ़ की जानी चाहिए। लेकिन किसी राजनीतिक मार्गदर्शन और नेतृत्व के अभाव में यह कौशल अर्थवाद की अन्धी गलियों में भटकता रह गया और एक सफल आन्दोलन के बावजूद आज दिल्ली के छोटे उद्योगों के मजदूरों की हालत में गिरावट ही है, बढ़ोत्तरी की बात तो दूर की है। बेहतर होगा कि हम इस आन्दोलन के सकारात्मक और नकारात्मक, दोनों ही अनुभवों से सीखें, और आगे के आन्दोलनों की योजना बनायें।

## अब क्या करें?

आज कोई भी मजदूर आन्दोलन असंगठित क्षेत्र के मजदूरों को अलग नहीं रख सकता। आज असंगठित क्षेत्र के मजदूर कुल मजदूर आबादी के आधे से भी अधिक हो चुके हैं। एक अनुमान के अनुसार पूरे देश में करीब 30 करोड़ असंगठित ग्रामीण व औद्योगिक सर्वहारा आबादी है। इस आबादी को छोड़कर होने

वाले संगठित क्षेत्र के ट्रेड यूनियन आन्दोलन अर्थवाद के गड्ढे में जाने को अभिशप्त होंगे। इस भारी असंगठित मजदूर आबादी के बिना कोई भी आन्दोलन कैसे आगे बढ़ सकता है?

इसलिए इस असंगठित मजदूर आबादी को संगठित करने की रणनीति और योजना बनाने पर जोर दिया जाना चाहिए। इसकी चुनौतियों पर हम पहले बात कर चुके हैं। मुख्य तौर पर छोटे कारखानों और इकाइयों की समस्या होती है जिसमें कम मजदूर होने के कारण कारखाने में संगठित हो पाना सम्भव नहीं होता। दूसरी चीज़ यह है कि बेरोज़गारी की जो हालत है उसमें पेशागत हड़ताल (मसलन, दिल्ली में हुई चमड़ा कामगारों की हड़ताल) या कारखाना-आधारित हड़तालों का स्कोप खत्म होता जा रहा है। ऐसे में इलाक़ाई आधार पर संगठित आम हड़तालों ही कारगर हैं। ऐसी हड़तालों के लिए परम्परागत रूप से बनी ट्रेड यूनियनों काफ़ी नहीं हो सकतीं। ऐसे आन्दोलन खड़ा करने के लिए आज मजदूर संगठनकर्ताओं को कारखानों से ज़्यादा मजदूर बस्तियों में संगठन पर जोर देना होगा। बड़े कारखाने बन्द किये जा रहे हैं और छोटे कारखानों में उन्हें तोड़ा जा रहा है। इसके कई कारण हैं। जो प्रमुख कारण है वह तो यही है कि मजदूरों को एक जगह बड़ी संख्या में एकत्र होने से रोका जा सके, जिसमें यह शासक वर्ग काफ़ी फ़ल भी हो रहा है। दूसरा महत्वपूर्ण कारण यह है कि उत्पादन प्रक्रिया को कई चरणों में तोड़कर पूँजीपति अपना मुनाफ़ा भी बढ़ाता है। क्योंकि जिस चरण का उत्पादन जिस इलाक़े में सस्ता होता है, पूँजीपति उस चरण का उत्पादन करने के लिए उसी इलाक़े में कारखाना लगाता है। मिसाल के तौर पर, अगर उत्पादन के उस चरण में मुख्य कच्चा माल रबड़ है तो पूँजीपति उसका कारखाना उस इलाक़े में लगाता है जहाँ से रबड़ उत्पादन स्थल तक लाने का खर्च न्यूनतम हो जाता है। साथ ही उस इलाक़े में उसे रबड़ का काम करने वाला सस्ता श्रम भी मिल जाता है। नतीजतन, पूँजीपति एक तीर से कई शिकार करता है। उत्पादन स्थल पर मजदूरों की वर्ग चेतना के जन्म और विकास को कुण्ठित करने में वह सफल हो जाता है।

लेकिन एक दूसरा पहलू है जिसका वह कुछ नहीं कर सकता। मजदूरों को वह उन इलाक़ों में बिखरा नहीं पाता जिसमें वे रहते हैं। किसी भी औद्योगिक केन्द्र के इर्द-गिर्द मजदूरों की तमाम विशालकाय रिहायशें बन जाती हैं जिन्हें नियन्त्रित और नियमित कर पाना राज्य और प्रशासन के बूते की बात नहीं होती। यही रिहायशें मजदूर बस्तियों के रूप में विकसित हो जाती हैं जिन्हें बाद में सरकार को मान्यता देने पर मजबूर होना पड़ता है। मिसाल के तौर पर, दिल्ली की अधिकांश झुग्गी बस्तियाँ जो कहीं रेलवे की ज़मीन पर तो कहीं विकास

प्राधिकरण की ज़मीन पर बसों और फिर जिन्हें मजबूरन नियमित करना पड़ा। वहाँ से मजदूरों को बिखेर पाना बहुत मुश्किल होता है। इसकी वजह यह है कि हर शहर पूँजीवादी व्यवस्था में वर्गगत आधारों पर विभाजित होता है। इस विभाजन को तोड़ने का प्रयास किया जाये तो मध्यवर्ग तक बगावत कर सकता है!! अपनी पॉश कालोनियों की ऊँची छतों से कहीं दूर नज़र आने वाली मजदूर बस्तियों पर ही उन्हें इतनी आपत्ति होती है तो अपने इर्द-गिर्द मजदूरों के हुजूम के आने पर तो उनकी हृदय-गति भी रुक सकती है!! ऐसे में मजदूरों को पूरे शहर में बिखेर पाना प्रशासन के लिए सम्भव नहीं है। दिल्ली में तो यह बात और भी साफ़ है। पूरी दिल्ली में मजदूर आबादी 60 लाख से ऊपर पहुँच रही है; यानी आधी से भी ज़्यादा। ऐसे में उसको बिखेरा तभी जा सकता है जब उसे पूरी दिल्ली में फैला दिया जाये। यह हो नहीं सकता। ऐसे में तात्कालिक उपाय के तौर पर उन्हें दिल्ली के परिधिगत क्षेत्रों में धकेला जा रहा है। नतीजतन, एक ऐसी स्थिति पैदा हो गयी है कि पूरी दिल्ली का ऐश्वर्य एक भारी मजदूर आबादी के विस्फोटक गुस्से से घिरा हुआ है। यह भी कोई वांछित स्थिति नहीं थी शासकों के लिए! लेकिन क्या करें? पूँजीवादी विकास की अराजकता पर काबू पाना पूँजीपति वर्ग और उसके टुकड़ों पर पलने वाले योजना बनाने वालों के बूते की भी बात नहीं होती।

इसे साबित करने के लिए और तर्क देने की आवश्यकता नहीं है कि दिल्ली की मजदूर आबादी को बिखराने का काम प्रशासक और योजना-निर्माता नहीं कर सकते हैं। यह बात अपने अनुभव से दिल्ली के मेहनतकश भी जानते हैं। तमाम पुनर्वास कालोनियाँ, झुग्गी बस्तियाँ, श्रमिक कालोनियाँ बनायी जा रही हैं लेकिन मजदूरों को बिखराया नहीं जा पा रहा है। इसलिए आज की ज़रूरत यह है कि इन बस्तियों में इलाक़ाई आधार के संगठन बनाने की प्रक्रिया का श्री गणेश किया जाये। इसके लिए इन इलाक़ों में जीवन की स्थितियों को बेहतर बनाने, शिक्षा और चिकित्सा, सफ़ाई आदि के नागरिक अधिकारों के लिए संघर्ष करने के लिए मजदूरों को लामबन्द और संगठित किया जाना चाहिए। इन संघर्षों की प्रक्रिया में ही एक इलाक़ाई मजदूर संगठन अस्तित्व में आ सकता है। ऐसे संगठन के बिना असंगठित मजदूरों का आन्दोलन कोई बेहद शक्तिशाली ट्रेड यूनियन ही कर सकती है, और ऐसी कोई भी ट्रेड यूनियन छोटे उद्योगों के मजदूरों के गुस्से के सुलगते बारूद को हाथ लगाने का जोखिम हाथ में नहीं लेना चाहती। इन मजदूर इलाक़ों में मजदूरों की वर्ग चेतना को कुन्द करने के लिए एन.जी.ओ. तो हैं लेकिन किसी भी बड़े ट्रेड यूनियन संगठन की अनुपस्थिति उलझन में डाल देती है।

ऐसे में सबसे पहले किसी भी क्रान्तिकारी संगठन के मजदूर संगठनकर्ताओं को मजदूर बस्तियों में जाना होगा; उन मजदूरों के साथ एकरूप हो जाना होगा; उनकी रोज़मर्रा की जिन्दगी के संघर्षों में उनके साथ खड़े होते हुए उनके बीच स्थान बनाना होगा; उनके बीच राजनीतिक प्रचार की कार्रवाई को पूरे ज़ोर-शोर से चलाना होगा; उनके राजनीतिक अधिकारों के प्रति उन्हें सचेत करना होगा; साथ ही उनकी आर्थिक माँगों की लड़ाई में भी उन्हें नेतृत्व देना होगा; उनके बीच सुधार की कार्रवाइयों को संचालित करना होगा; उनके बीच पेशागत मजदूर संगठन बनाने की बजाय पूरे इलाक़े के मजदूरों का इलाक़ाई मजदूर संगठन खड़ा करना होगा। और उपर्युक्त कार्रवाइयों के ज़रिये ही ऐसे मजदूर संगठनों के निर्माण की तरफ़ आगे बढ़ा जा सकता है। यही आज का मुख्य कार्यभार है। आर्थिक माँगों का संघर्ष खुद-ब-खुद राजनीतिक माँगों के संघर्ष में तब्दील नहीं हो सकता है। आर्थिक माँगों पर लड़ने की स्थिति जब भी पैदा हो तो उसके लिए ज़रूर लड़ा जाना चाहिए। लेकिन उसके अतिरिक्त आम नागरिक माँगों पर भी मजदूरों को संगठित किया जाना चाहिए। इसके लिए उन्हें उन अधिकारों के प्रति सजग बनाना होगा जो एक नागरिक के तौर पर उन्हें मुहैया होने चाहिए। इस प्रक्रिया में ही हम उनकी वर्ग चेतना को सघन बनाने का काम कर सकते हैं। यह काम इलाक़ाई मजदूर संगठन के ज़रिये किया जा सकता है। मजदूरों के कारख़ाना-आधार पर संगठित न हो पाने का एक सकारात्मक यह है कि अब मजदूरों के भीतर किसी भी पेशागत संकुचन की प्रवृत्ति के पैदा होने की सम्भावना कम होगी। अब दुश्मन के रूप में उसके सामने सिर्फ़ उसके कारख़ाने का मालिक नहीं बल्कि पूरा मालिक वर्ग और पूरी पूँजीवादी सत्ता अपने सारे खाने के दाँतों के साथ (पुलिस, नौकरशाही, सेना, औद्योगिक सुरक्षा बल आदि) बिल्कुल नंगे रूप में खड़े होते हैं। अब इस शक्तिशाली और खुले रूप में सामने खड़े दुश्मन के खिलाफ़ मजदूरों को संगठित करने का काम इलाक़ाई मजदूर संगठन ही कारगर रूप में कर सकते हैं, न कि कारख़ाना-आधारित ट्रेड यूनियनों।

कहने की ज़रूरत नहीं है कि यहाँ हम छोटे कारख़ानों के मजदूरों को संगठित करने की रणनीतियों की बात कर रहे हैं। जहाँ भी बड़े कारख़ानों में ट्रेड यूनियनों बनाना सम्भव हो वहाँ ऐसा ज़रूर किया जाना चाहिए। लेकिन वहाँ भी मजदूरों को पेशागत संकुचन की प्रवृत्ति, अर्थवाद, और अराजकतावादी संघाधिपत्यवाद के दलदल में जाने से बचाना होगा। उनके बीच आर्थिक संघर्षों को चलाने के दौरान उनके बीच राजनीतिक कामों की निरन्तरता को बनाये रखना बेहद ज़रूरी होगा। अन्यथा, फिर वही ग़लती होगी जो ट्रेड यूनियन आन्दोलन के इतिहास में लगातार होती रही है और जो अभी भी तमाम क्रान्तिकारी वाम संगठन

तक कर रहे हैं – जुझारू अर्थवाद। कोई संगठन कम जुझारू अर्थवाद कर सकता है तो कोई ज़्यादा जुझारू; लेकिन राजनीतिक प्रचार और काम की अनुपस्थिति में लड़ा जाने वाला आर्थिक संघर्ष अर्थवाद और अराजकतावादी संघाधिपत्यवाद की ओर ही ले जायेगा।

इसलिए आज सबसे पहले तो कारख़ानों से बस्ती की ओर जाने की रणनीति को बदलकर बस्ती से कारख़ानों की ओर जाने की रणनीति में तब्दील कर देना होगा और राजनीतिक माँगों पर संघर्ष को संगठित करने की अनुकूल स्थितियों का लाभ उठाते हुए जनता को राजनीतिक नागरिक माँगों पर उनके इलाकों में संगठित करना होगा। एक मजदूर इलाक़ाई और कारख़ाना-पारीय, पेशा-पारीय और क्षेत्र-पारीय मजदूर संगठन बनने के बाद कारख़ानों की ओर भी कूच करने की स्थितियाँ और 1988 की सात दिवसीय हड़ताल से भी बड़े संघर्षों और राजनीतिक संघर्षों की ओर बढ़ने के रास्ते खुल जायेंगे। पहले इलाकों में जड़ें जमानी होंगी। उसके बिना मजदूरों की व्यापक आबादी को संगठित नहीं किया जा सकता।

और दूसरी बात जिस पर ध्यान देना होगा, वह यह कि जहाँ भी कारख़ाना-केन्द्रित संघर्षों की गुंजाइश हो वहाँ उन्हें करते हुए इलाक़ाई आधार पर मजदूर संगठन भी बनाये जायें। साथ ही, कारख़ाना आधारित लड़ाई लड़ते हुए राजनीतिक प्रचार और कार्य के ज़रिये अर्थवाद और राजनीतिक संघाधिपत्य के गड्ढे में जाने से बचा जाये।



राजधानी दिल्ली देश के सबसे बड़े औद्योगिक केन्द्रों में से एक है। यहाँ की आबादी का बहुत बड़ा हिस्सा मेहनतकशों का है – शायद सबसे अधिक। लेकिन यह विशाल मेहनतकश आबादी दिल्ली की सबसे उपेक्षित आबादी है। अधिकारों और जीवन-स्थितियों के मामले में तो वे उपेक्षित हैं ही, उनके बारे में प्रामाणिक जानकारी और आँकड़ों का भी अभाव है। यह पुस्तिका आँकड़ों के माध्यम से राजधानी के मेहनतकशों के बारे में जनसांख्यिकीय जानकारियों, उनकी जीवन-स्थितियों और संघर्षों की तस्वीर पेश करने के साथ ही उन्हें संगठित करने के नये रूपों की भी चर्चा करती है। पुस्तिका इस बात की भी तस्वीर पेश करती है कि राजधानी में मेहनतकशों की कितनी बड़ी ताक़त मौजूद है। ज़रूरत है इस बिखरी हुई ताक़त को जागरूक, एकजुट और संगठित करने की।



राहुल  
फ़ाउण्डेशन

ISBN 978-93-80303-16-1

मूल्य : ₹. 15.00

